श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

गोस्वामीश्रीहरिकृष्णशास्त्रिविरचित

श्रीआचार्यविजय

हिन्दी अनुवाद
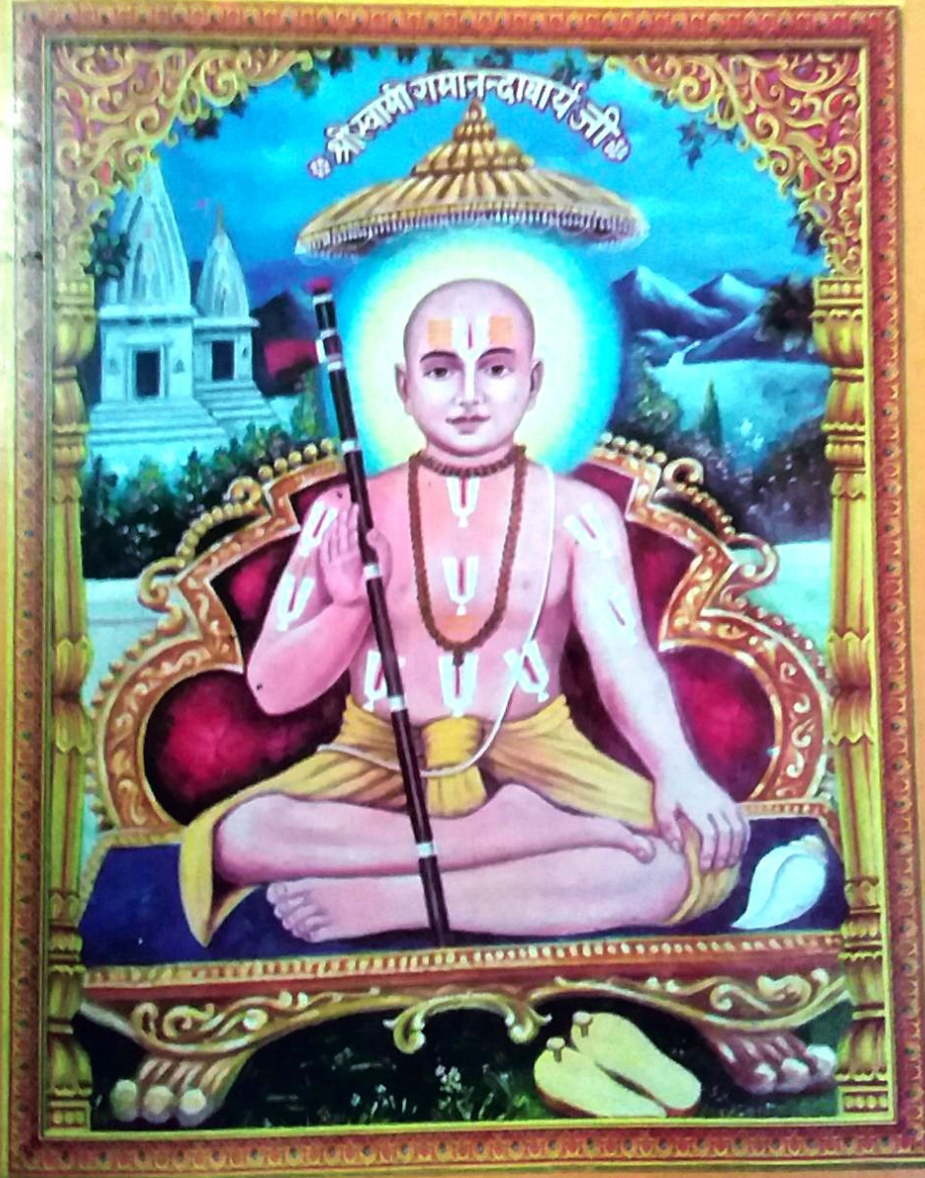
आविर्भूतो महायोगी द्वितीय इव भास्करः।
रामानन्द इति ख्यातो लोकोद्धरणकारणः।।

प्रकाशक

डॉ. स्वामी राघवाचार्य वेदान्ती

जगद्गुरु अग्रदेवाचार्यपीठ श्रीजानकीनाथ बड़ा मन्दिर, रेवासा (सीकर)

चौबीसवाँ परिच्छेद

षोडश कलाओं से विलसित पूर्णिमा की अमृतस्यन्दिनी किरणों के विलास से संवर्द्धित, सरसता, सुन्दरता एवं शीतलता के निधान कुमुदिनी समूह को विकसित करने वाले रुचिर चन्द्र बिम्ब को देखकर अपनी शतशत भुजा रूपी तरंगों से स्नेह प्रकट करने वाला समुद्र मानो सुधाधर चन्द्र को अपने हृदय से लगा लेने के लिये हर्षोद्गार को हृदय में धारण करने में असमर्थ होकर बार-बार तट से अपनी तरंगों को टकरा रहा था । ठीक इसी प्रकार श्रीमद्राघवाचार्यवर्य्य पूर्ण चन्द्र के समान ही सम्पूर्ण श्रीरामानन्द के उत्तरोत्तर बढ़ते हुये प्रचण्ड पाण्डित्यपूर्ण प्रभाव रूपी वैभव एवं सम्मान को देखकर अपने अन्तःकरण में उत्पन्न प्रमोद की ऊर्ध्व सीमा को धारण करने में समर्थ नहीं हो रहे थे । यद्यपि श्रीरामानन्द के आश्रम में प्रवेश के समय में ही उनके बालसूर्य के समान प्रवर्द्धमान तेज विशेष का अनुमान कर तथा अनेक गुण गौरव से विभूषित एवं वरिष्ठ धर्माचार्य पद पर प्रतिष्ठा के योग्य सभी चेष्टाओं को देखकर निस्सन्देह श्रीराघवानन्दाचार्यजी अपने उत्तराधिकारी बनने के योग्य जान कर निश्चिन्त थे किन्तु अब तो अपनी भावना के अनुकूल सभी कुछ हो जाने पर पूर्ण विश्वस्त हो गये थे ।

इसी प्रकार श्रीरामानन्द स्वामी गुरु श्रीराघवानन्दाचार्यजी को साक्षात् अवतार धारण कर आये हुये भगवान् रामचन्द्र ही समझकर उनके चरणारविन्दों के मधुकर बन गये थे । उनकी सेवा में परायण वे प्रतिदिन उनकी करुणा कृपा की आकांक्षा करते रहते थे । प्रखर पाण्डित्य के प्रताप एवं वैदुष्य से विद्वन्मूर्धन्य होते हुये भी नम्रता की भावना से भूषित अन्तःकरण वाले श्रीरामानन्द अपने को वहाँ रहने वाले छात्रों के अन्तर्गत ही मानते हुये सतत गुरु सेवा एवं आराधना में तत्पर रहकर अपने को उनके चरणों का एक अकिंचन सेवक मानते थे । निर्धन के लिये अपार धनराशि की भाँति प्रतिफल उनकी आज्ञा तथा कृपा प्राप्त करते रहने की कामना करते थे ।

वहीं कोई श्रौत स्मार्त कर्मानुष्ठान युक्त भगवान् के अर्चन एवं नित्य नैमित्तिक कर्मों में प्रवृत्त सरल स्वभाव वाले वृद्धावस्था के कारण शिथिल

शरीर बन्ध वाले मात्सर्य लोभ मोहादि अवगुणों से रहित, वेद वेदान्त विज्ञान से समन्वित द्विजवंश श्रेष्ठ एक वृद्ध ब्राह्मण रहते थे। भगवच्चरणोपासना एवं भगवत् चिन्तन में रत ब्राह्मण ने पूजा के अन्त में प्रतिदिन की भाँति आज भी शंखध्वनि की। क्योंकि वे उस समय के यवन शासकों द्वारा नियोजित कर्मचारियों से प्रसारित होने वाले दुर्दान्त आतंक को भूल गये थे।

उसी समय बगल में ही स्थित मस्जिद में कोई अफीमची बूढ़ा यवन जो प्रतिदिन या रात-दिन अल्ला अल्ला की आवाज किया करता था और उस मस्जिद के संरक्षक पद में नियुक्त था, उसने नमाज के बहाने अपने प्रभाव एवं आतंक को फैलाने के लिये उच्च स्वर में गरज उठा-यह कौन है ? कहाँ से आया है जो हमारी नमाज के समय महाशंखध्वनि करके व्यवधान उपस्थित कर रहा है ? उसके मुख से ये शब्द निकले ही थे कि हिंसा प्रिय उसके अनुयायी हत्यारे यवन युवक हाथों में शस्त्र लिये हुये यमदूत के समान चारों ओर दौड़ पड़े।

यवनों के आतंक से दूषित इस दुराचार के समय में भारतवर्ष में सर्वत्र प्रत्येक नगर एवं ग्राम में प्रतिगृह में यवन लोग बलपूर्वक हिन्दुओं के घर में प्रवेश कर धन लूट रहे थे, स्त्रियों का अपहरण कर रहे थे, कुल वधुओं के धर्म का विध्वंसन कर रहे थे। जिस किसी भी बहाने से हिन्दू धर्म धारकों की हिंसा करना दुराचारों को बढ़ावा देना यही अपना कर्त्तव्य मानते हुये वे यवन हत्यारे खेल-खेल में अधर्म एवं दुष्कृत्य करके आनन्दित हो रहे थे। इसी प्रकार इस मस्जिद के स्थान में भी पहले भगवान् का मन्दिर था जहाँ यवन शासकों से नियुक्त किया गया अन्तिम स्थिति में स्थित एक बूढ़ा मुल्ला रहता था और उसकी आज्ञा का पालन करने वाले दुराचारी दुष्ट यवन युवक वहाँ रहकर सदाचार परायण धार्मिक हिन्दुओं के कार्यों में विघ्न डाल रहे थे।

इसके बाद वे शस्त्र धारी यवन सैनिक चारों ओर फैल गये। धार्मिक हिन्दुओं के घरों में घुसते और निकलते हुये निरीक्षण करते हुये वहीं पहुँच गये जहाँ वह वृद्ध ब्राह्मण भगवान् की पूजा कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर नीचों ने चारों ओर से उस घर को घेर कर अन्दर घुस गये और समस्त भगवत् पूजन की सामग्री को दूषित तथा नष्ट करते हुये अनर्गल प्रलाप एवं दुर्वचनों का प्रयोग करने लगे। ब्राह्मण के द्वारा

बारम्बार प्रार्थना करने के बाद भी दुगुना क्रोध दिखाते हुये उस ब्राह्मण की सम्पूर्ण साधन सामग्री एवं धन का अपहरण कर एकमात्र भगवानके ही आश्रित रहने वाले असहाय, निर्बल, दीन-हीन उस ब्राह्मण को निरपराध होते हुये भी महान् अपराधी की भाँति पीटते हुये बन्धन में बाँधकर घसीटते हुये उसको बन्दी बना लिया, और उसके घर में आग लगा दी । जब तक पूर्ण रूपेण वह घर जलकर खाक नहीं हो गया तब तक वहीं बैठे रहे । अग्नि बुझाने का प्रयत्न करने वाले तथा वहाँ उपस्थित संसाधनों का प्रयोग करने वाले आये हुये लोगों को आग बुझाने नहीं दिया । जैसे-जैसे आग की लपटें बढ़ रही थीं वैसे-वैसे वह ब्राह्मण आर्तनाद करता हुआ और अधिक रो रहा था । कारण यह था कि उसका एकमात्र सप्त वर्षीय बालक अत्यधिक बीमार था उठने में असमर्थ था और ज्वालाओं से घिरे हुये उसी घर के नीचे वाले भाग में सो रहा था । उसकी रक्षा के लिये ब्राह्मण ने बहुत बार निवेदन किया किन्तु उसकी बात को किसी ने नहीं सुनी । वे नीच एवं निर्दयी यवन युवक उस ब्राह्मण को बाँधकर वहीं ले आये जहाँ वह मद घूर्णित नेत्र वाला बूढ़ा अफीमची यवन बैठा हुआ था ।

यद्यपि उस ब्राह्मण के घर के पूरी तरह से जल जाने तक की अवधि के लिये वहाँ कुछ यवन सैनिक नियुक्त किये गये थे, किन्तु भगवान् की इच्छा ही बलीयसी हुआ करती है । भगवान् जहाँ स्वयं अपने भक्त की रक्षा करने के लिये उद्यत हों, वहाँ भला फिर कौन है जो उसका विनाश कर सके ? उन्हीं सैनिकों में एक सहृदय सैनिक भी था, जब उसकी दृष्टि उस असहाय ब्राह्मण बालक के ऊपर पड़ी तब वह तत्काल ही उस जलते हुये घर में प्रवेश कर अग्नि स्पर्श रहित शिशु को बाहर निकाल लाया । उस सैनिक की इस चेष्टा से खिन्न एवं अन्य मनस्क उसके अन्य साथी सैनिक उसकी निन्दा करने लगे , किन्तु वह दयालु सैनिक इसकी परवाह न करते हुये उस बालक को वहीं किसी गृहस्थ ब्राह्मण के घर में दे आया । एवं धरोहर के समान रखने के लिये कह दिया । तदनन्तर वह गृहस्थ ब्राह्मण भी उस बालक को श्रीरामानन्द स्वामी के पास ले जाकर, सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाकर उन्हें बालक सौंपकर आप ही अब इसके रक्षक हैं ऐसा कहकर चला आया ।

इसके बाद वे यवन सैनिक वृद्ध ब्राह्मण को बन्धन में बाँधे हुये मस्जिद में ले जाकर 'काजी' नाम से प्रसिद्ध न्यायाधीश की पदवी से विभूषित व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित हुये । अन्य दुष्ट यवन भी वहाँ उपस्थित थे । 'काजी' नाम के न्याय कर्त्ता ने उस ब्राह्मण पर अपनी कुटिल दृष्टि डाली ।

काजी ने कहा- अरे वृद्ध ब्राह्मण !

तुम्हारी जरा से जर्जर देह और श्वेत केश देखकर सामान्य रूप से मनुष्यों के मन में दया का भाव उत्पन्न हो जाय इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । किन्तु तुम्हारे उस कर्म का स्मरण आने पर किसी भी यवन धर्मी का मन तनिक भी द्रवित नहीं हो सकता । क्योंकि हमारे भगवान् की प्रार्थना के अवसर पर जहाँ नितान्त शान्त वातावरण होना चाहिये, उसी नमाज पढ़ने के समय तुमने बहुत तेज शंख की ध्वनि से बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित किया है । उससे केवल मेरी ही प्रार्थना में विघ्न नहीं पड़ा अपितु हमारे अटल नियमों में भी बाधा पहुँची है, जिससे सम्पूर्ण यवन जाति एवं यवन शासन का अपमान हुआ है, प्रतिष्ठा को धक्का लगा है । तुमने हमारे धर्म पर कुठाराघात किया है । अत: हमारे शासन की गौरव रक्षा के नियमानुसार इस प्रकार के अपराध के लिये प्राणदण्ड ही स्वीकृत किया गया है । तुम्हारे द्वारा किये जाने वाले शंख वादन से नमाज के समय में खुदा की पूजा रूपी धर्माचरण में अशान्ति उत्पन्न हुई है । सभी ने इस क्रोध एवं क्षोभ की शान्ति अपनी आत्मा को दबाकर की है । इसका प्रतिशोध तो तभी पूरा हो सकता है, जब तुम्हारे पूरे कुटुम्ब को तिल तिल काटकर शरीर के मांस पिण्ड को बलि भक्षी गीध और चील्हों को अर्पित कर दिया जाय । उनके आगे फेंक दिया जाये ।

किन्तु मैं तुम्हारी इस मरणासन्न अवस्था एवं वृद्धावस्था को देखकर निर्णय देता हूँ कि तुम भी शीघ्र ही हमारे यवन धर्म को स्वीकार कर किये हुये कर्म का प्रायश्चित करो । नहीं तो तुम्हारे कुटुम्ब परिवार का भला नहीं होगा हमारे धर्म को स्वीकार कर लेने पर तुम्हारे सभी अपराध क्षम्य होंगे ।

बताओ क्या हमारा धर्म स्वीकार कर उससे उत्पन्न अपूर्व सुख चाहते हो अथवा मृत्यु ? ब्राह्मण ने कहा-यवनराज शासक ! विष्ठा भक्षण करके जीवन यापन करने से तो मर जाना ही अच्छा है ।

वह ब्राह्मण जो प्रतिदिन यज्ञ करता हो, भगवच्चिन्तन में संलग्न रहता हो भला वह अपने जीवन की रक्षा के लिये हत्यारे काजी के कथन को स्वीकार कर सकता है ? कदापि नहीं । वह तो भगवान् की सेवा समाप्त होने पर मृत्यु को ही मुक्ति का हेतु मान रहा था ।

ब्राह्मण ने इस प्रकार के निश्चय को सुनकर वह निर्णायक काजी क्रोधान्ध होकर शीघ्र ही प्राण दण्ड की घोषणा कर देता है ।

मस्जिद में स्थित सभी म्लेच्छ यवन अल्ला हो अकबर की घोषणा करते हुये अति प्रसन्न हो गये । ब्राह्मण ऐसे प्राण दण्ड को सुनकर और यह मानकर की घर के साथ-साथ मेरा बालक भी जल गया होगा, अपने वंशोच्छेद की आशंका से अत्यधिक विलाप करने लगा । प्राण दण्ड के भय से तनिक भी विषाद नहीं हुआ ।

उसी समय कोई यवन सैनिक शीघ्र आकर नियमानुसार उसे नमन कर निवेदन करने लगा-भगवन् ! यह दूसरा सेवक जो हिन्दू है इस ब्राह्मण के घर जलने के समय में घर के भीतर सोते हुये नव-दश वर्ष की आयु वाले रोगी बालक को घर के साथ-साथ उसका भी जलना भी निश्चित समझकर कातर नेत्रों से अपनी प्राण रक्षा के लिये प्राण भिक्षा माँगने वाले अंजलिबद्ध होकर बारम्बार करुण क्रन्दन करने वाले इस ब्राह्मण को देखकर हमारी आज्ञा की उपेक्षा करके शीघ्र ही भयंकर अग्नि की ज्वालाओं से घिरे हुये भी उस घर में घुसकर शीघ्र ही उस बालक को एक कथरी (कन्था) में लपेट कर जलते हुये घर से निकालकर तेजी से जाकर न जाने कहां उसको सुरक्षित कर दिया है । बार-बार हमारे पूछने पर भी नहीं बतला रहा है । अपने उस गोपनीय कर्म को प्रकट नहीं कर रहा है । अब आप ही उसके सम्बन्ध में सोचें ।

यह सुनकर ही प्रचण्ड अग्नि से प्रज्वलित चूल्हा पर स्थित अत्यन्त स्वल्प पाद्य से अत्यधिक अग्नि के सन्ताप से उफनते हुए दूध की तरह अचानक उसका अपार क्रोध काजी के मुख से दुर्वाक्य के रूप में प्रकट हुआ काजी ने पूँछा-कहाँ है वह दुरात्मा सत्ता द्रोही सैनिकाधम । उसको शीघ्र ही मेरे सामने उपस्थित किया जाय ।

इस प्रकार के राजमद से गर्वित प्रभाव से उन्माद से तथा सत्ताधिकार से अन्धे उस काजी के मुख से अनर्गल बचन रूपी बाणों का

प्रसारण सुनकर वहीं पर स्थित क्षत्रिय सैनिक सिंह दुर्वचन रूपी बाणों से आहत होकर गरज उठा- अरे ! यवन सत्ता से मदोन्मत्त ! यवन कुल कलंक न्याय सिंहासनासीन दुष्ट पाजी काजी ।

मुस्लिम धर्म के प्रतिकूल आचरण करने वाले, एक मात्र अपनी ही स्वार्थ देखने वाले, न्याय के बहाने अपने धर्म को कलंकित करने वाले राक्षस कर्मकारी मानव रूपधारी तुमको धिक्कार है धिक्कार है । किस मूर्ख ने तुम्हें न्यायाधिकारी बनाया है ? अरे दुष्ट दानव की प्रतिमूर्ति तुम्हारी ही तरह के स्वार्थलोलुप नीच व्यक्ति परस्पर विरोध की भावना को बढ़ाकर द्वेष एवं शत्रुता को बढ़ावा देते हैं ।

नहीं तो भगवान् की सृष्टि में सभी जीव, सभी प्राणी भगवान् से ही उत्पन्न हैं । हिन्दू एवं मुस्लिम सभी परस्पर भाई ही हैं । उनका धर्म भी समान ही है । शास्त्र भी दोनों के एक ही हैं । सभी का एक ही सिद्धान्त है कि भगवान् ही सबके आराध्य हैं । भगवान् के अनेक रूप एवं नाम हैं । जो हमारा ईश्वर है भगवान् है वहीं मुस्लिम भाईयों का अल्लाह और अकबर है । (अल् धात् भूषण, पर्याप्त और निषेध के अर्थ में तथा अह्-व्याप्ती दो धातुयें हैं - जिसका म्वादि गण में अलति वहीं सर्वत्र है । स्वादि गण में अह्नोति व्याप्त हो रहा है ।

क्योंकि अल्ला अक्का अम्बा ये भगवान् की शक्तियाँ हैं और उनको (शक्तियों को) जो व्याप्त करके स्थित है वही अल्लाह है जगत का निर्माता ईश्वर है । इसी प्रकार अकबर शब्द की भी व्याख्या है । अ माने वासुदेव क माने ब्रह्म (अक्षर ब्रह्म) और उसका वं माने सुख रः माने जो देता है वहीं अकबर है ।

इति अकबरः । तथाहि- **अकारो वासुदेवाख्यः स एव ब्रह्म 'कं' मतम् ।**
तस्य 'वं' परमानन्दं राति, दत्ते, 'ह्यकब्बरः

वहीं परमानन्द का दाता भगवान् अकबर शब्द से पुकारा जाता है । अल्लाह तो सर्वशक्तिमान् भगवान् ही है । जैसे पुराणों में वर्णन है वैसा ही कुरान में भी है । तो फिर दोनों में क्या भेद है ? वास्तविक मुस्लिम जाति स्वभाव से क्रूर नहीं होती न निर्दयी होती अथवा न वे राक्षस होते । किन्तु आप जैसे लोग ही उनको गलत ढंग से शिक्षा देकर उन्हें धोखा देकर उनसे

क्रूर कृत्य कराते हैं । परस्पर द्वेष की अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और निरपराधों की हत्या करते हैं । अत: कुछ तो धर्म का विचार कर अपने को भी वैसा ही मानकर पुन: उस ब्राह्मण के अनुरूप दण्ड विधान सोचिये । अन्यथा यह कृत्यपूर्ण पापमय स्वार्थपरक जनता पर रोब जमाना ही है ।

अत: मैं कहता हूँ- कि न्याय की आड़ में जिसको प्रकाशित किया जा रहा है वह धर्म नहीं है । वह तो प्रपञ्च है । जहाँ दया, क्षमा, शान्ति, सत्य, अहिंसा, सज्जनता विश्वप्रेम और बन्धुत्व भावना है वहीं धर्म है ।

अत: हिन्दू धर्म में अथवा मुस्लिम धर्म में सब जगह एक ही सिद्धान्त है । केवल आचार विचार में ही भेद है । धर्म के स्वरूप में नहीं, जहाँ धर्म के नाम पर सम्पूर्ण देश में उल्कापात जनसंहार और धार्मिक सम्पत्तियों का विलुण्ठन किया जा रहा हो अथवा मनुष्यों में परस्पर रक्त पिपासा बढ़ रही हो, वहाँ आप जैसे लोगों को द्वेषमूलक तथा एकमात्र स्वार्थ साधक अज्ञान युक्त व्यवहार एवं व्यापार ही कारण है । उसी का यह दुष्परिणाम है जो प्रत्यक्ष आज दिखाई पड़ रहा है । अन्यथा भगवान् राम में और आपके रहीम में कोई भेद या व्यवधान नहीं है । केवल नाम का ही भेद है । दोनों के ही सिद्धान्त पवित्रतम हैं । अत: कहीं भी धर्मग्रन्थों में ऐसा उल्लेख नहीं है कि संकट ग्रस्त व्यक्ति की रक्षा न की जाय अथवा निरपराध को दण्डित किया जाय । यह भी नहीं है कि किसी की पत्नी एवं धन का अपहरण किया जाय या किसी के घर जला दिये जाये । तो फिर आप लोग यह सब दुराचार क्यों कर रहे हो ? यह कहाँ लिखा है कि दूध पीने वाले निर्दोष शिशु को जीवित दशा में अग्नि के मध्य जलने से न बचाया जाय । मैंने तो दीन हीन अबोध बालक की रक्षा अग्नि में जलने से की है । इस प्रकार के कार्य को कहीं भी अपराध की श्रेणी में नहीं गिना जाता है । तो फिर मुझे अपराधी क्यों घोषित किया जा रहा है । यदि संकट से रक्षा करने के कार्य को अपराध नाम से व्यवहृत किया जाता है तो मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे प्रतिदिन दीन जनों की रक्षा के शुभ कार्य मुझसे कराते रहें ।

सैनिक के द्वारा निर्भयतापूर्वक दिये गये इस प्रकार के उत्तर को सुनकर अपनी भौंहों को टेढ़ी करके वह पाजी काजी लज्जित होता हुआ भी अपने गौरव एवं प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये निर्लज्जता के साथ अपनी बूढ़ी कौड़ी के समान आँखों को फाड़कर बोला-

काजी- अरे ! अपने स्वामी से द्रोह करने वाले, कृतघ्न सैनिकाधम! हमारे अन्न से पोषित होते हुये भी अपमानजनक भाषा का प्रयोग कर रहे हो। हमी लोगों से द्रोह कर रहे हो। हमसे ही तुम्हें जीविका मिल रही है। और हमारे ही ऊपर अपनी आज्ञा का प्रवर्तन कर रहे हो। अरे मूढ़ ! जानते हो कि इसका क्या परिणाम होगा ? स्वामिद्रोह का क्या फल है ?

सैनिक- मैं सब जानता हूँ। दुष्ट शासकों और कुपथगामियों के नियम को कौन नहीं जानता है ? एकमात्र निज स्वार्थ को ही लक्ष्य मानने वाले तथा भक्ष्या-भक्ष्य का भक्षण करने वालों के नियम को कौन नहीं जानता है मृत्यु से बढ़कर कोई भी भयंकर दुष्कर्म नहीं है मैं उससे भी नहीं डरता हूँ।

काजी- अरे इतनी घृष्टता ! कहो रे ! इस वृद्ध के बालक को कहाँ पर सुरक्षित कर आये हो ? उस अपराधी ब्राह्मण के बालक को यहाँ उपस्थित करो।

इस वृद्ध का बालक मेरे पास सुरक्षित है। सैनिक के मुख से सुधावृष्टि के समान इन वचनों को सुनकर वृद्ध ब्राह्मण में चेतना आ गयी। सजल नेत्रों से उस सैनिक की ओर देखकर उसे अनेक शुभाशीष वचनों से सम्बोधित किया।

ब्राह्मण- चिरायुष्मान् ! भाई सैनिक ! क्या आपने यह सत्य ही कहा है कि मेरे पास वह बालक सुरक्षित है।

सैनिक- हाँ, श्रीमान् जी ! वह सब प्रकार से सुरक्षित तथा स्वस्थ है।

ब्राह्मण- दुश्शासन के बंधन में जकड़ा हुआ मैं अब सुखपूर्वक शरीर का त्याग करूँगा। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें और बालक को दीर्घायु प्रदान करें।

काजी- तो क्या बालक को मुझे समर्पित नहीं कर रहे हो ? मेरी बात की उपेक्षा कर रहे हैं। घृष्टता का आचरण करते हुये यदि राजकीय आज्ञा का उल्लंघन करोगे तो उसका फल भी भोगोगे।

सैनिक- तुम्हारी जिस आज्ञा से द्रोह, पक्षपात, और हठधर्मिता बढ़ रही हो, प्रजा का अधिकार एवं सम्मान नष्ट हो रहा हो, स्वार्थ लोलुपता बढ़ रही हो एवं पापों का पोषण हो रहा है तुम्हारी वह आज्ञा मानने के योग्य

नहीं है । मैं तुम्हारा भी हित नहीं करूँगा । यद्यपि मैं सब तरह से राजसत्ता का शुभाकांक्षी सेवक हूँ , फिर भी मैं केवल अपना ही पेट भरना पर्याप्त नहीं समझता हूँ । इससे भी बड़ा और मेरा क्या कर्त्तव्य हो सकता है कि मैं अपने लोगों के लिये कभी भी किसी भी प्रकार का विश्वासघात न करूँ । तथा प्रजा के स्वाभिमान को एवं हिन्दू जाति के परम्परागत गौरव को मैं नष्ट नहीं करूँगा । और न तो मैं कुछ चाँदी के टुकड़ों को वेतन के रूप में प्राप्त कर हिन्दू जनता के खून के गारे से निर्मित दीवारों के आधार पर आधारित राजसत्ता भवन के स्थिरीकरण में सहायक ही बनूँगा । मेरी सामान्य मानवता यह है कि किसी भी कलंक के पंक में लिप्तता, स्वसमाज के द्वारा तिरस्कार सहना, एवं दुर्दान्त दानव बनकर पापों को बढ़ाने का यह सब करने में मैं समर्थ नहीं हो सकूँगा । इस प्रकार के क्रूर कर्म केवल वही कर सकता है जो ईश्वर से अथवा धर्म लोप न डरता हो । जिसने संसार में पिशाचावतार ग्रहण किया हो और मानव के रूप में दानव बनकर मनुष्यों को ठगने में आनन्दित होता हो ।

विवेककपूर्वक विचार कीजिये कि जहाँ कहीं भी शासन की स्थिरता या दृढ़ता दिखाई पड़ती है वहाँ प्रजा की प्रसन्नता आशीर्वाद एवं शुभकामना ही उसके मूल में है । तथा जब भी कोई सत्ता प्रजा के सुख, सम्मान और साधनों का अपहरण करने में तथा उसके गौरव को धूल में मिलाने में उद्यत हुई है बस उसी समय से उसका पतन सुनिश्चित हो गया है । शीघ्र ही ऐसी सत्ता पराधीन दीन जनों के शाप ताप से दग्ध हुई है ।

यह सुनकर नितान्त दुर्दान्त एवं अशान्त काजी क्रोध के आवेश में पूर्वापर के ज्ञान से शून्य हो गया । उसकी आँखें लाल हो गयीं टेढ़ी भौंहें संकुचित हो गईं । नाक एवं मुख से लहसुन और प्याज की गन्ध आने लगी । शासन के अधिकारी पद में होने के उन्माद से घमण्डी मेघ के समान अनर्गल प्रलाप करने लगा ।

काजी-- अरे कृतघ्न सैनिकाधम ! बस अधिक बकवास मत करो । अब तुम सत्ता विद्रोही बन गये हो । तुम्हारा अपराध ब्राह्मण के अपराध से भी बड़ा है । तुम प्रत्यक्ष रूप से राजद्रोह की घोषणा कर रहे हो । अतः इसी ब्राह्मण के साथ तुम्हें भी शूली में चढ़ाया जाय । सैनिको ! इसे भी बाँध लो । और इस ब्राह्मण के बालक का भी अन्वेषण करो जिसको इस सैनिक

ने सुरक्षित कर दिया है । उस बालक के मिल जाने पर उसे भी यवन धर्म स्वीकार करवाओ । अन्यथा की स्थिति में तलवार से टुकड़े-टुकड़े करके गीध और कौओं के आगे फेंक दो । यही मेरा निर्णय है अथवा न्यायालय का आदेश है ।

ऐसा निर्णय देकर न्यायालय का विसर्जन कर दिया गया ।

दूसरी और श्रीरामानन्दस्वामी उस ब्राह्मण बालक को बार बार पुचकार रहे थे-बेटा ! धैर्य रखो रोओ मत । अब तुम भगवान् के चरणों में आ गये हो । अब तुम्हें यमराज का भी भय नहीं है, फिर साधारण शासक की तो बात ही क्या है । अब निर्भय हो जाओ । पिताजी की दुखद चिन्ता को छोड़ दो । उनकी भी रक्षा भगवान् ही करेंगे । अन्य कोई नहीं । जो व्यक्ति भगवान् की सेवा के लिये या भगवान् की सेवा करते हुये संकटग्रस्त हो जाते हैं उनकी रक्षा स्वयं भगवान् किया करते हैं । अत: चिन्ता छोड़ कर स्वस्थ एवं निर्भय हो जाओ ।

उसी समय किसी शिष्य ने श्रीरामानन्द स्वामी को सूचित किया कि भगवन् ! जो सैनिक इस बालक को लेकर कल मठ में आया था, उस सैनिक को भी इस बालक के पिता के साथ काजी नामक यवन शासक ने शूली में चढ़ाने का आदेश दे दिया है, और इन दोनों को जल्लादों के हाथ में सौंप दिया है । आज ही वे दोनों तलवार से काट दिये जायेंगे । यह सुनकर ब्राह्मण बालक फूट फूट कर रोने एवं चिल्लाने लगा । निरन्तर सान्त्वना देते रहने पर भी उसका करुण क्रन्दन बन्द नहीं हुआ । बल्कि बढ़ता ही गया । वाह रे मोह !

ब्राह्मण और सैनिक के प्राण दण्ड का यह वृत्तान्त सम्पूर्ण नगर के कोने-कोने में फैल गया । शासकों के अत्याचारों की निन्दा पूरी जनता कर रही थी किन्तु दुष्ट दुर्जन दु:शासन के भय से स्पष्ट रूप से उनके समक्ष कोई भी कहने में समर्थ नहीं था ।

इस प्रकार दण्ड देने का वह क्रूर समय उपस्थित हो गया । सैनिक एवं ब्राह्मण वध स्थल में ले आये गये । जल्लाद अपनी अपनी तलवारें म्यान से बाहर निकाले खड़े थे । उस समय उन दोनों से एक बार फिर मुस्लिम धर्म स्वीकार करने के लिये पूँछा गया, किन्तु धिक्कार के साथ उनके कथन

का तिरस्कार कर देने पर तलवार के वार के लिये जैसे ही हिंसा सूचक घंटा बजाया गया वैसे ही उसी स्थल में मस्जिद में यवन शासक के न्यायालय में, नमाज पढ़ने के स्थान में गड्ढे खोदकर जहाँ शव दफनाये गये थे उन स्थानों पर एवं उनके ऊपर बनी हुई कब्रों पर चारों ओर सहसा भयंकर अनन्त शंखों की ध्वनि गूँज उठी। उस आवाज को सुनकर न्यायकर्ता वह काजी यवन सैनिक एवं यवन शासक अत्यधिक संत्रस्त हो उठे। जल्लादों के हाथों से शीघ्र ही तलवारें गिर गईं। सभी के कान बहरे हो गये। आपस में की जाने वाली वार्ता भी उस समय सुनाई नहीं पड़ रही थी। जहाँ-जहाँ यवन लोग जाते थे वहीं वहीं महान् शंखों का भयंकर घोष उनके कान के परदों को विदीर्ण करने लगा। उनके हृदयों में भी निरन्तर वह शंख घोष गूँज रहा था। इस विचित्र घटना को देखकर वे व्याकुल होकर चारों ओर दौड़ते हुये भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सके। जहाँ कहीं भी बरामदे में मस्जिद में वे गये वहीं मस्जिद की दीवारों से, प्रांगण से, ऊँचे बुर्जों से, द्वारों से, कमरों से, खिड़कियों से, फर्श से, ऊपर से, नीचे से, अगल से, बगल से, पीछे से, सामने से, प्रत्येक पत्थर एवं ईंट से बह ध्वनि आ रही थी। इस प्रकार भयभीत सभी यवन शासक, सैनिक न्यायकारी काजी आदि चारों ओर घूमते हुये भी कहीं भी शान्ति न मिलने पर काजी ने अपने सैनिकों को शीघ्र ही आदेश दिया-मेरे सैनिक सावधानीपूर्वक सुनें यवनों की प्राण रक्षा के लिये ब्राह्मण एवं सैनिक दोनों को शीघ्र ही बन्धन मुक्त कर दिया जाय। ये दोनों कोई बहुत बड़े जादूगर एवं मायावी प्रतीत होते हैं। कृत्या रूपी शंख घोष की कोई विद्या इन्होंने छोड़ दी है। अत: सैनिकों ने काजी के निर्णयानुसार उन दोनों को शीघ्र ही बन्धन से मुक्त कर दिया।

इस प्रकार उन दोनों के यथा स्थान पहुँच जाने पर भी वह शंख महाघोष शान्त नही हुआ। तान्त्रिक यवन एवं बहुत से मुल्ला लोग अपने ज्ञान के अनुसार अपने-अपने मंत्र तंत्र एवं यंत्रों का प्रयोग करने लगे। किन्तु सभी प्रयोग निष्फल हुये शंख घोष शान्त नहीं हुआ। वरन् जहाँ जहाँ वे जाते थे वही-वहीं घर में, कुटी में, नगर में, जंगल में, देवालय में, भोजनालय में, पाकालय में, शौचालय में, स्नानगृह, शयनगृह, सभी जगह वह महान् ध्वनि कानों को बधिर बना रही थी। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से स्वयं बजते हुये शंख सात दिनों तक दिखाई पड़ते रहे। तब सब खिन्न एवं भयभीत यवन

किसी की शरण के इच्छुक होने लगे । किन्तु उन्हें कोई रक्षक नहीं दिखाई पड़ रहा था । तब किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर क्या करें, कहाँ जायें, इस प्रकार परस्पर पूँछते हुये विलाप करते हुये तोबा तोबा खुदा खुदा कहते हुये एवं रोते हुये कुछ लोगों को सज्जन यवनों ने सान्त्वना दी । अरे मूर्खों रोओ नहीं । अपने किये हुये दुष्कर्मों का प्रायश्चित करो । उन्हीं दोनों (ब्राह्मण एवं सैनिकों) के चरणों में गिरकर क्षमा प्रार्थना करो और इसके बाद उन्हीं को आगे करके पञ्चगंगातट में स्थित श्रीराघवानन्दाचार्य के आश्रम में विशिष्ट चमत्कार युक्त आचार्य जी के नवीन संन्यासी शिष्य के पास पहुँच कर अपनी रक्षा के लिये विनम्रता दैन्य एवं भक्ति भाव के साथ निवेदन करो । तभी आप सबका यह कष्ट मिटेगा, अन्यथा नहीं ।

वे सभी इस सत्परामर्श के अनुसार एकत्र होकर पंचगंगातट में स्थित उसी आश्रम में पहुँचकर नम्रतापूर्वक श्रीरामानन्द स्वामी के चरणों में गिरकर अपने अपराधों के लिये पुनः पुनः क्षमा प्रार्थना करने लगे । वह काजी भी अपनी लम्बी दाढ़ी से भूमि का मार्जन करते हुये नम्रतापूर्वक अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करने लगा । उनकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुये श्री रामानन्द स्वामी ने उनसे कहा-यवन शासक काजी महोदय !

निरन्तर दुराचार में रत रहने वाले आप लोगों ने अपने अभ्यास के अनुसार इस निर्दोष ब्राह्मण का बहुत बड़ा अपराध किया है इसका सब कुछ नष्ट करने के साथ-साथ घर भी जला दिया है । अतः भगवान् के भक्त का अपराध करने के कारण ही आप लोगों के ऊपर ऐसी विपत्ति आई है । यह दण्ड ईश्वर ने ही दिया है और यह आवश्यक भी था । यदि इस भय से आप लोग मुक्त होना चाहते हैं और अपनी रक्षा चाहते हैं तो ब्राह्मण की क्षतिपूर्ति करें एवं क्षमा याचना करें । क्षमा याचना पूर्वक सैनिक से भी प्रार्थना करें । भविष्य में कभी भी किसी भी धर्म को आघात न पहुँचायें । सम्पूर्ण प्रजा का प्रेमपूर्वक पुत्र के समान संरक्षण करें । भगवान् के भक्तों को सतायें नहीं और न ही उनके पूजा के समय में किसी प्रकार का विघ्न ही डालें । उनके धर्माचरण को बाधित न करें । जिनके घर एवं भूमि भाग बलपूर्वक आप लोगों ने अपहत कर लिये हैं जो जिसका है उसे लौटा दें । इस बस्ती को जिनसे छीनकर आप लोगों ने अपने अधिकर में कर लिया है उससे अपना अधिकार हटा लें और अन्यत्र चले जायें यदि आप लोग अपनी कुशलता

चाहते हैं तो शीघ्र ही मेरी कही हुई बातों को शुद्ध मन से स्वीकार कर लें। सभी के साथ आत्मीय जनों की भाँति व्यवहार करें। कोई भी किसी से भी द्रोह, शत्रुता या ईर्ष्या न करे। धन एवं स्त्री आदि का अपहरण न करें। आप स्वयं अपनी अन्तरात्मा से सत्यतापूर्वक अपने धर्म की साक्षी देकर शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करें, तभी संकटों से मुक्ति मिलेगी, अन्यथा नहीं, यह अटल बात है।

जो शासक या राजा होता है वह कभी भी आप लोगों की तरह शासन की आड़ में धर्म, धन, पत्नी, भवन और स्वतन्त्रता का हरण नहीं किया करता। इस प्रकार की लूटपाट लुटेरे किया करते हैं शासक नहीं। राजा या शासक तो अपने और पराये के भेद को छोड़कर राज्य की सम्पूर्ण प्रजा को अपने पुत्र के ही समान मानते हैं। किसी के धर्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करते। जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुँचाता है वह धर्म नहीं कुधर्म है। अतः वैरभाव छोड़कर अपने-अपने धर्म का पालन कीजिये और दुख से छुटकारा पाईये। जिसकी जो सम्पत्ति हड़प ली है उसे उसकी सम्पत्ति लौटा दो।

इस प्रकार श्रीरामानन्द के मुखारविन्द से अमृत के समान मधुर वाणी को सुनकर उनकी भावना शुद्ध हो गयी, और सभी ने वैरभाव का परित्याग कर अपहृत सामग्री को पूर्ण रूप में उन्हें वापस कर दिया, जिनकी वह थी। सभी यवन शासक परस्पर प्रेम भाव से आबद्ध होकर उपदेश के अनुसार आचरण करते हुये सुखी हो गये। ब्रह्मण और सैनिक मृत्यु दण्ड से मुक्त कर दिये गये। दोनों श्रीस्वामी के शिष्य हो गये, और सुखपूर्वक वहीं निवास करने लगे।

पचीसवाँ परिच्छेद

श्रीरामानन्द के तप एवं अद्‌भुत गुणों के समन्वय से उत्पन्न चमत्कार के अनन्त वैभव विलास से विस्तारित महत्त्व से चमत्कृत श्रीराघवानन्दाचार्य के मन में लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न हो गया । अद्‌भुत गुणों से पल्लवित सम्मान रूपी पुष्पों से विकसित विद्वत्ता के अद्‌भुत सौरभ से सुगन्धित श्रीरामानन्द स्वामी की भुवन तल में फैली हुई कीर्ति रूपीलता को देख देखकर आचार्य श्री राघवानन्द अतीव प्रमुदित थे । सर्वत्र जिसका गौरव रूपी विकास व्याप्त था ऐसी प्रतिष्ठित काशी की विद्वद्‌मण्डली को आमंत्रित कर अपने आश्रम वासी जनों के मनोनुकूल सभी सम्मानित एवं आमंत्रित विद्वानों की पवित्र सम्मति से सम्मानित अपने आश्रम पीठ की आचार्य पदवी की प्रतिष्ठा के अनुरूप सर्व सम्मति से एवं शास्त्र सम्मत विधि से उल्लासपूर्वक श्रीरामानन्द स्वामी का आचार्य पीठ पर अभिषेक सम्पन्न हुआ ।

सम्पूर्ण शास्त्रीय विधि विधान के सम्पन्न हो जाने पर और उस पीठ पर श्रीरामानन्द के नाम का श्रीरामानन्दाचार्य नाम से उद्‌घोष हो जाने के बाद पूज्यपाद श्रीराघवानन्दाचार्य ने समयानुकूल स्वाधिकार भार को परिवर्तित कर अपनी शुभाशीष परम्परा से युक्त समुचित उपदेश विशेष को प्रकाशित किया । बेटा रामानन्द ! वैदिक सनातन धर्म की मर्यादा एवं परम्परा से सुशोभित इस आचार्य पीठ को जो दया, उदारता आदि गुणों से गौरवान्वित है, लोक सेवा में निरत है, और विद्वत्ता की परम्परा में प्रतिष्ठित है, पूरी तरह से आज तक मैंने सुरक्षित रखा है । वृद्धावस्था के कारण शरीर की शिथिलता से अब मैं पहले की तरह इसको संचालित करने में असमर्थता का अनुभव कर रहा हूँ । अतः आज से इस पीठ के संचालन का सम्पूर्ण कार्य भार सर्वथा सुयोग्य, पीठ के सभी प्रकार के कार्यभार को वहन करने में निपुण एवं जनप्रिय तुम्हारे (रामानन्द के) ऊपर सौंप रहा हूँ जिससे कि यह सुव्यवस्थित रूप से पहले की भाँति चलता रहे एवं सुरक्षित भी रहे । इसी क्षण से पीठ के कार्यों का उत्तरदायित्व तुम्हें समर्पित कर मैं इस समय बन्धन मुक्त हो रहा हूँ । पीठाचार्य पद, सम्प्रदाचार्य पद एवं आचार्य परम्परा प्रचारक पद सभी का

तुम्हें अधिकारी बना रहा हूँ । साथ ही आचार्य पद से मण्डित तुम्हारा नामकरण श्रीरामानन्दाचार्य उद्घोषित कर रहा हूँ । भगवान श्री रामचन्द्र हमेशा रक्षा करते हुये तुम्हारा कल्याण करेंगे । प्रतिक्षण आचार्यानुरूप तुम्हारी विद्वत्ता का विलक्षण वैभव फैलता रहे । श्री साकेत विहारी जानकी वल्लभ भगवान श्री राम/कीर्ति के साथ-साथ तुम्हारे मनोरथों की भी पूर्ति करें, इन शुभाशिषों से तुम्हारा अभिनन्दन भी करता हूँ ।

श्री राघवानन्दाचार्य- बेटा ! रामानन्दाचार्य ! यद्यपि तुममें सब प्रकार की योग्यता है तथापि प्रसंगवश कुछ कहना चाहता हूँ । अब मैं अपना कर्त्तव्य समझकर उपदेश योग्य निर्देश दे रहा हूँ । वह यह है कि आप अपने धर्माचार्य पद के दायित्व को सदैव धारण करते हुये स्वधर्म के पालन में कभी प्रमाद मत करना अथवा आलस्य मत करना । अभिमान न आने पायें । आचार विचार परम्परा भी टूटने न पाये । इन सब बातों की आप को सतर्कता एवं व्यवस्था के साथ रक्षा करनी चाहिये । मठ के संचालन में और इसके गुण गौरव की प्रतिष्ठा में अपनी शक्ति का पूर्ण सदुपयोग करना चाहिये । और स्वयं आपको जल में रहकर भी कमल की भाँति उससे निर्लेप रहते हुये सभी इन्द्रियों के व्यापारों को छोड़कर सभी प्रकार के सुखों और भोगों में आसक्ति रहित रहना चाहिये । मठ मन्दिरों तथा धार्मिक स्थानों को अपने उपयोग में लाने के गर्हित कृत्य से बचना चाहिये । उनका उपयोग पारमार्थिक रूप से जनकल्याण के कार्यों में सार्वजनिक कार्यों में तथा भगवद्भक्ति के प्रचार प्रसार में जितना भी और जिस प्रकार भी हो निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये । अपने सुख और उपभोग के लिये इनका प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिये ।

आपको सर्वथा विशुद्ध एवं पवित्र आचरण का आदर्श उपस्थित करना चाहिये । लोक में इस आचरण की पवित्रता का प्रचार होना चाहिये । निरन्तर सदुपदेशों से सत् शिक्षा से तथा सभी के उद्धार की भावना से मन्त्रराज का प्रचार-प्रसार करना अत्यावश्यक है । लगातार इसी भावना से इस कार्य को आगे बढ़ायें ।

कर्त्तव्यमेव कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।

अकर्त्तव्यं न कर्त्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।

प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा, गौरवं रौरवं मतम् ।
अभिमानं सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।

कण्ठ गत प्राण होने पर भी कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिये । जो करने योग्य नहीं है उसको कण्ठगत प्राण होने पर भी नहीं करना चाहिये । प्रतिष्ठा को सूकरीविष्ठा के समान, गौरव को नरक के समान अभिमान को मदिरापान के समान समझकर इन तीनों का त्याग करके सुखी रहें ।

अत: प्रतिष्ठा, गौरव एवं अत्यधिक सम्मान का परित्याग किया जाना चाहिये । ऐसा समझकर आश्रम के नियमों का पालन करना चाहिये । यह उपदेश है, यही कर्त्तव्य है और यही आज्ञा है । विवेकपूर्वक विश्वास, श्रद्धा, दृढ़ अनुराग एवं भक्ति से सम्पूर्ण व्यवहार करते रहना ।

अपने आचार्य के मुख कमल के निस्सृत मधु पान को प्राप्त कर उनके चरण कमलों के भ्रमर श्रीरामानन्दाचार्य ने प्रणाम करते हुये निवेदन किया ।

श्रीरामानन्दाचार्य-परम सम्मान्य श्री भगवत् स्वरूप गुरुचरण ! आपकी ही सत् शिक्षा के प्रताप से मुझ से भी अधिक गुण गौरवशाली विद्वान इस आश्रम में हैं जो पूर्णरूप से इस मठ के कार्यभार को बहन करने में सर्वथा सुयोग्य एवं सक्षम है । तथापि मेरे ऊपर आपने जितनी कृपा की है उसके योग्य मैं नहीं हूँ । किन्तु श्रीचरणों का शिर पर वरद हस्त है, इसी आधार पर श्रीचरणों की अभिलाषा के अनुरूप कार्यभार वहन करने में अपने को समर्थ बना सकूँगा । इस आशा के बल को हृदय में रखकर कार्यरत रहूँगा तथा निर्वहन करने का पूरा प्रयत्न करूँगा । इस समय तो 'आज्ञागुरुणामविचारणीया' इस आधार पर श्रीगुरुचरणों के कृपा बल से मैं अपने को सम्पन्न मान रहा हूँ ।

यह भी स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण भारतवर्ष में धर्म के बहाने नाना प्रकार की अपने-अपने मतों के अनुसार धार्मिक प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं । तथा आपस में घोर संघर्ष हो रहा है । अधिक क्या कहा जाय-बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि विभिन्न धर्म ध्वंसक मत वैदिक सनातन धर्म का विच्छेदन

करने हेतु प्रयासरत है । रमणियों के साथ रमण करने वाले विलास बुद्धि प्रधान लोग परम्परा से चली आने वाली हमारी वर्तमान सनातन धर्म संस्कृति को जड़ से उखाड़कर पाताल भेजने में उद्यत हैं । ये लोग अनेक कुत्सित पथ एवं प्रवृत्तियों का प्रचार करने में संलग्न हैं । इस समय के लोग भी विहार और आहार के विलास से युक्त सुलभ एवं सुखद साधनों की अभिलाषा रखते हैं । इस प्रकार की वर्तमान परिस्थितियों में ऐसे धर्माचार्य पद की रक्षा करना सुगम एवं सरल नहीं है अपितु काँटों से भरे हुये मार्ग में चलने जैसा है ।

तथापि मैं जानता हूँ और यह स्वीकार करता हूँ कि धर्माचार्य अपने क्षेत्र में तभी सफलता प्राप्त कर सकेंगे, जब वे सुदृढ़ चरित्र युक्त धर्माचरण पर आरुढ़ होंगे और धैर्य, साहस, विवेक तथ तपोबल का साम्राज्य स्थापित करेंगे एवं इन्द्रिय लोलुपता से दूर रहेंगे । जो सर्वथा चरित्रवान, सभी कामनाओं से निस्पृह निर्लिप्त और जितेन्द्रिय होगा, एवं भगवद् भावना से युक्त भक्त विद्वान् एवं सुधार्मिक होगा । वहीं इन कार्यों में सफलता प्राप्त करेगा ।

'गुणैरेतैर्विहीनश्चेत्स्वच्छन्दो लोलुपोऽलसः ।
रागी क्रोधी हठी स्त्रीजित्, नाचार्यो भवितुं क्षमः' ॥१॥
सः प्रत्युत स्वयं याति नरकं पातयत्यपि ।
स्वानुगान् धर्म निर्मूलं करोति पदलोलुपः ॥२॥

यदि कोई आचार्य इन गुणों से विहीन है, तथा लोलुप, आलसी, रागी, क्रोधी, हठी और स्त्रियों के वश में है । वह आचार्य की योग्यता तथा पात्रता नहीं धारण करता । बल्कि वह आचार्य पदलोलुपता के कारण धर्म को निर्मूल करने का प्रयत्न करता है स्वयं नरक में तो जाता ही है अपने अनुयायियों को भी नरक में गिराता है ।

यह सब समझकर आपके द्वारा दिये गये उपदेश को दृढ़तापूर्वक अपने हृदय में स्थापित कर दिये गये इस धर्माचार्य पद को सावधानीपूर्वक

सुस्थिर चित्त से, प्रमाद रहित होकर सत्कर्मों का पालन करते हुये पूर्णतः धर्म की मर्यादापूर्वक दक्षता के साथ अपने दायित्व का पालन करूँगा ।।

आपका शुभाशीष और जगन्नियन्ता करुणा वरुणालय, साकेत विहारी भगवान श्रीराम का कृपा बल मुझे अपने कर्त्तव्य के शिखर पर आरूढ़ कराये यही मेरी प्रार्थना है ।

इस प्रकार के श्रीरामानन्दाचार्य के विनम्र भाषण को सुनकर हर्षातिरेक के उल्लास से श्रीराघवानन्दाचार्य ने जय जय की ध्वनि का उद्घोष किया और श्रीरामानन्दाचार्य का शुभाशीष वचनों से अभिनन्दन करते हुये आगन्तुक अतिथियों को ससम्मान विदा किया ।

ाधर्म

ारी
ाये

ार
ा
ते

छब्बीसवाँ परिच्छेद

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति,
चन्द्रोविकासयति कैरव चक्रबालम् ।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति,
सन्तः स्वयं पर हितेषु कृताभियोगाः ॥
''न हि कस्तूरिकाऽऽमोदः शपथेन विभाव्यते,
तिरोहितं विधातुं वा शक्यते न कथञ्चन ।
सज्जनां तथा कीर्तिर्न प्रयासमपेक्षते स्वतः
संवर्द्धमाना सा विश्वं व्याप्य प्रतिष्ठते ॥[१]

इस प्रकार श्रीरामानन्दाचार्य के धर्माचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो जाने पर श्रीराम मन्त्र का प्रचार और प्रभाव विश्वव्यापी हो गया । और उससे (श्रीराम मन्त्र के प्रभाव से) श्रीरामानन्द की कीर्ति भी देश देशान्तर में फैल गयी ।

आज तक जन समाज में जो इस प्रकार की धारणा थी कि श्रीराम मन्त्र अपने उपासकों को धन सन्तानादि लौकिक सामान्य फल को ही प्रदान करता है, इससे अधिक कुछ नहीं । राम मन्त्र वेद विहित नहीं है और वैदिक न होने के कारण सभी लोगों के लिये उपकारी नहीं है । इस फैली हुई दुर्भावना को अपने प्रवचन से आचार्य श्री ने छिन्न भिन्न कर दिया । जैसे प्रचण्ड वायु के वेग से सघन बादल एवं सिंह शावक के आक्रमण से

---

१. सूर्य कमल को प्रकाशित करता है, चन्द्रमा कुमुदिनी को विकसित करता है बिना प्रार्थना के ही मेघ जल प्रदान करते हैं सन्त महापुरुष स्वयं ही दूसरों के हित में लगे रहते हैं । कस्तूरी के सुगन्ध के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है किसी भी प्रकार से उसे छिपा नहीं सकते हैं जैसे कस्तूरी की सुगन्ध के लिए यदि कोई शपथपूर्वक कहे कि यह सुगन्ध है तो भी सुगन्ध का ज्ञान तो बिना शपथ के स्वयं होगा उसी प्रकार सत्पुरुषों की कीर्ति बिना प्रयास के ही स्वतः सर्वत्र फैलती हुई वह पूरे विश्व में व्याप्त हो जाती है ।

हाथियों के झुण्ड छिन्न विच्छिन्न हो जाते हैं । आपने राम मन्त्र की वैदिकता को स्थापित किया । विविध वेद-मन्त्रों, उपनिषदों एवं संहिताओं से तथा स्मृति वचनों से श्री राम मन्त्र की वैदिकता प्रमाणित कर दी ।

एकैकं राममन्त्रस्तु सर्वपापप्रणाशनम् ।
सहस्त्रनामसमतां फलदं वेदविश्रुतम् ॥
मन्त्र राज श्रीराम का एक हरै सब पाप ।
लाभ हजार नाम सम वेद कही यह बात ॥

आनन्द संहिता में लिखा है- एक राम मन्त्र ही सभी पापों का विनाशक है । इसकी समता सहस्त्र नामों से भी नहीं की जा सकती । यह वेद विश्रुत मंत्र है ।

किञ्च- **''ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रास्तथेतराः ।**
मन्त्राधिकारिणः सर्वे ह्यनन्यशरणा यदि ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्रियाँ, शूद्र तथा इतर लोग भी इस मन्त्र के अधिकारी हैं केवल उनकी एकमात्र शरणता प्रभु राम की ही होनी चाहिये ।

श्रीराम मन्त्र दीक्षा में तो निम्न से निम्न व्यक्ति का समान अधिकार है, वहाँ कोई भेदभाव नहीं है । वैष्णव तंत्र में कहा गया है- सभी वैष्णव मंत्रों में राम मन्त्र का फल अधिक है । अतः उदारतापूर्वक इसका प्रचार अवैदिक नहीं है और न ही शास्त्र विरुद्ध । इससे किसी भी वर्ण व्यवस्था का लोप नहीं होता ।

''श्रुतिब्रह्म हि षड्वर्णं, स्मृतिर्वर्णद्वयात्मिकाम् ।
अगस्त्य- **षड्वर्णं ब्राह्मणादीनां त्रयाणां यद् द्विवर्णकम् ।**
संहितायाम्- **तदन्येषां देशिकेन वक्तव्यं तारकं परम् ॥**

अगस्त संहिता में- षडक्षर श्रीराममन्त्र वैदिक है और द्वयक्षर वर्ण स्मार्त है इनमें षडक्षर मन्त्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए देय एवं ग्राह्य है और अन्य लोगों को द्वयक्षर मन्त्र का उपदेश आचार्य को करना चाहिए ।

भावार्थ यह है कि- षडक्षर मन्त्र वेदोक्त है तथा द्वयक्षर मन्त्र शास्त्रोक्त है । अतः ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्यों के लिये षडक्षर तारक मन्त्र की दीक्षा का विधान है । स्त्री और शूद्रोंके लिये द्वयक्षरात्मक मन्त्र का

विधान है । श्रीरामानन्दाचार्य ने केवल मंत्र दान के विधान में ही वैदिक मर्यादा का पालन नहीं किया, वरन् उनकी दिनचर्या में लौकिक, अलौकिक एवं शारीरिक तथा वाचिक क्रियाकलाप में भी कभी वैदिक मर्यादा कर उल्लंघन नहीं हुआ । इसीलिये इसके प्रचार प्रसार में वैदिक ब्राह्मणों एवं विद्वानों ने भी भाग लिया ।

एक बार श्री रामानन्दाचार्य विद्यापीठ में विद्यार्थियों को वेदाध्ययन करा रहे थे, उसी समय ब्रह्मवर्चस् से युक्त अपनी कान्ति से सभी लोगों के मुखों को प्रकाशित करने वाला कर्पूर राशि के समान गौर वर्ण युवावस्था के विकास से तेजोमय कुसुम सदृश सुकुमार एक ब्राह्मण कुमार आया । आते ही प्रणाम करके नम्रता उल्लास एवं आग्रह के सहित अंजलिबद्ध होकर उसने प्रार्थना की ।

भगवन् ! संसार सागर की तरल तरंगों से विह्वल एवं किं कर्त्तव्य विमूढ़ जनों के उद्धार हेतु नाविक की भाँति कृपा करने वाले भक्तवाञ्छा कल्पतरु ! चरण कमल के मकरन्द से भक्तों को संतृप्त करने वाले ! आगम निगम एवं अखिल विद्या विशारद ! यश रूपी चन्द्रिका से भुवन तल को प्रकाशित करने वाले ! संसार के समस्त तापों एवं पापों की ज्वाला से जलते हुये लोगों के सन्तापहारी शीतलचन्द्र ! अमल कमल चरणों की शरण में आये हुये भक्तों के रक्षक ! अशरण शरण ! विश्व विख्यात माहात्म्य से महिमा मंडित ! हे, जगद्गुरो ! मैं संसार सागर की तरल तरंगों से क्षुब्ध और मायाकृत बन्धनों से आबद्ध एवं दीन हीन ब्राह्मण कुमार हूँ आपकी शरण में आ गया हूँ । आपके संरक्षण की कामना करता हूँ । मेरी रक्षा कीजिये । आचार्य की जय हो ।

ऐसा कहकर श्री रामानन्दाचार्य के चरण कमलों में भ्रमर की भाँति प्रीतिपूर्वक दण्ड प्रणाम करता हुआ वह ब्राह्मण कुमार उन अभयदान देने वाले चरणों में लिपट गया । ब्राह्मण कुमार के अनन्य भाव एवं श्रेष्ठ प्रतिभा को देखकर श्रीरामानन्दाचार्य का अन्तः करण शीघ्र ही द्रवित हो गया नितान्त हृष्ट पुष्ट, अति सुकुमार, वचन चातुरी में निपुण उस ब्राह्मण कुमार को शुभाशीष से अभिनन्दन करते हुये उसकी अभिलाषा का ज्ञान करने के लिये उससे वार्तालाप करने लगे ।

श्रीरामानन्दाचार्य- बेटे ! तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? किस वंश को जन्म लेकर प्रकाशित किया है ? और किसके घर की शोभा (अर्थात् किसके पुत्र) हो ।

ब्राह्मणकुमार- (अपने आपको परम सौभाग्यशाली मानकर उनकी करुणा रूपी सुधा से आनन्दित गद्‌गद कण्ठ से नम्रतापूर्वक उसने निवेदन किया आचार्य चरण ! शरणागत वत्सल !

सरयू नदी के पावन तट पर स्थित महेशपुर नामक ग्राम का निवासी हूँ । मेरे पिताश्री विश्वनाथ शर्मा हैं । मैं अनन्त नाम का द्विजकुमार हूँ । आपके चरण कमलों का मधुकर हूँ ।

प्रभो ! मैं अपने पिता की एकमात्र सन्तान हूँ । ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ होने के कारण अपने माता-पिता को अत्यधिक प्रिय हूँ । पिताजी मुझे प्राणों से भी अधिक स्नेह देते हैं (चाहते हैं) मैं ही उनके कुल का एकमात्र आधार एवं उनकी आँखों का तारा हूँ । इसी लिये सांसारिक परम्परा के अनुसार वे गृहस्थाश्रम के बन्धन में बाँधकर हठपूर्वक मुझे द्वितीय आश्रम में प्रवेश कराना चाहते हैं । किन्तु मैं संसार चक्र में पड़ने को अपना पतन मानकर भयभीत हो रहा हूँ अत: इस आश्रम से अत्यधिक दूर रहकर अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करते हुये भगवद् भजन, कीर्तन, श्रवण, स्मरण, मनन निदिध्यासन मैं रत रहकर भगवच्चरणार विन्द में आनन्द का अनुभव करता हुआ अपना कल्याण एवं अपने जीवन की सफलता भगवान की पूजा में तथा भक्तजनों की संगति में समझ रहा हूँ । अत: सोने के पिंजरे में बन्द पक्षी की भाँति सुलभ अवसर की प्रतीक्षा करता हुआ समय पाते ही भगवत् कृपा से मुक्ति प्राप्त कर पुन: बन्धन में पड़ने के भय से वहाँ से भाग कर श्रीचरणों की सन्निधि में आ गया हूँ । मैं अभयदान चाहता हूँ । संसार के ताप में गिरने की आशंका से व्याकुल हूँ ।

इस प्रकार के उस ब्राह्मण कुमार के अभिप्राय को सुनकर श्रीरामानन्दाचार्य शास्त्रोक्त वचनों की युक्ति से तथा लौकिक व्यवहार की नीति से उसको बारम्बार गृहस्थाश्रम की सेवा की प्रेरणा देते रहे परन्तु परमविरक्त भावना की अनुरक्ति से युक्त हृदय वाला वह लौकिके गृहस्थाश्रम की आसक्ति से विरक्ति का चिन्तन करता हुआ भगवद् भक्ति को ही अपने कल्याण का हेतु मानता था । अत; गृहस्थाश्रम के बन्धन को स्वीकार नहीं किया ।

इसके बाद श्रीरामानन्दाचार्य ने उसका अटल निश्चय जानने के बाद कहा- वत्स ! तुम्हारे इस दृढ़ निश्चय से मैं अत्यधिक सन्तुष्ट एवं प्रसन्न हूँ ।

किन्तु इस सम्बन्ध में तुम्हारे माता-पिता की जब तक सहानुभूति एवं हृदय से प्रेमपूर्ण स्वीकृति नहीं प्राप्त हो जाती तब तक तुम्हें मैं वैष्णव दीक्षा नहीं दे सकता । अत: तुम्हें अपने माता-पिता की प्रसन्नतापूर्ण आज्ञा प्राप्त करनी ही चाहिये ।

यह सुनकर कुछ मानसिक क्षोभ दिखाते हुये पुन: निर्भय होकर मौन सहमति प्रकट कर दी ।

तदनन्तर पिता श्री विश्वनाथ शर्मा वहाँ आये । वे धन जन से सम्पन्न शास्त्रीय ज्ञान विज्ञान में निष्णात, ज्ञान एवं आयु में वृद्ध सर्वथा समृद्ध भगवत् कृपा से परम भक्ति से युक्त सांसारिक नित्यानित्य विवेक से सम्पन्न "ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है" ऐसा दृढ़ विश्वास होने पर भी लोक रीति के अनुसार पितृ सुलभ स्नेह के कारण सब प्रकार से हित एवं अहित का विवेचन करते हुये व्यावहारिक रीति नीति से अपने पुत्र को सम्बोधित कर गृहस्थाश्रम ही सर्व सुलभ है सभी आश्रमों को संरक्षक एवं फल प्रदाता है भगवान के द्वारा अनुमोदित है, सब प्रकार की उपासनाओं के साधनों से युक्त है जनहितकारी है भोग और मोक्ष दोनों को देने वाला है यह सिद्ध किया । तदनन्तर पुत्र को सर्वथा विरक्त एवं दृढ़ निश्चयी जानकर पिताजी ने अपना आग्रह छोड़कर पुत्र को दीक्षा की अनुमति दे दी । तथा स्वयं रामानन्दाचार्य जी के पास पहुँचकर अपने पुत्र के हाथ को आचार्य श्री के कर कमलों में रखकर नम्रता एवं श्रद्धापूर्वक निवेदन किया- पूज्यपाद यतिराज चरण ! आज तक यह बालक मेरा था, अब आपकी शरण में आ गया है और आपका ही हो गया है । शरणागत इस बालक को अपने श्री चरणों का कृपा पात्र बनाकर इसे कृत कृत्य करें । मैं और अधिक क्या निवेदन करूँ । इस एक के ही कल्याण से हम सबका कल्याण हो जायेगा । ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है । मैं इसके वैराग्य का अनुमोदन करता हूँ ।

श्रीरामानन्दाचार्य ने कहा- 'तथास्तु' बालक के समुज्ज्वल वैराग्य को देखकर प्रसन्न होकर आचार्य श्री बोले-यह बालक अपने पितृ कुल एवं

गुरुकुल को गौरवान्वित करेगा । तदनन्तर शुभ मुहूर्त में यथा नियम पंच संस्कार सम्पन्न कराकर अनन्त नाम के बालक की दीक्षा वैदिक विधि से सम्पन्न कराते हुये उसका 'अनन्तानन्द' नामकरण कर दिया ।

तत्पश्चात् यह बालक आचार्य चरण सेवा में रत रहते हुये श्री गुरुचरणों की सन्निधि में रहकर वेद-वेदान्तों का सम्यक् अध्ययन पूर्ण कर प्रकाण्ड पण्डित बनकर भगवद्भक्ति का प्रचार प्रसार करता हुआ लोक कल्याण में रत होकर सब प्रकार से प्रतिष्ठा, गौरव एवं ख्याति को उपलब्ध हो गया ।

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

सम्पूर्ण भुवनों में श्रेष्ठ, जन धन की समृद्धि से युक्त ईश्वर भक्ति भाव में अग्रणी, सम्पूर्ण देशों से आये हुये दीन हीन जनों के दैन्य, कष्ट एवं समस्याओं के हरण में समर्थ, समागत तपस्विजनमन को उल्लसित करने वाला, सदैव फल फूल की समृद्धि से ललित लता वितान से सुशोभित अपने पूर्व पुण्यों के परिणाम से देवलोक की अनुपम सुषमा से आलोकित मालव देश का श्रृंगार 'गांगरौन' नाम से प्रसिद्ध एवं सिद्ध, वैभव सम्पन्न 'राजगढ़' नामक प्रसिद्ध राज्य था ।

उस समय अपने गुण गौरव से वहाँ का राठौर वंश अत्यन्त प्रभावपूर्ण था । वहाँ प्रसिद्ध क्षत्रिय वंश विभूषण, जिन्होंने अपने प्रभाव एवं प्रताप से शत्रुओं को संतप्त कर दिया था । सुन्दर सद्‌गुणों से एवं उज्ज्वल कीर्ति से एवं वैभव अनुरूप उदारता से उन्होंने समस्त याचकों की दीनता को समाप्त कर दिया था । ऐसे पीपा जी 'नामक पुनीत नाम वाले राजा के चरणों में समस्त राजा लोग अपना शिर रख देते थे । समागत गुणी जनों का उनके गौरव के अनुरूप सम्मान करने में निपुण, अशरण की शरण राजा 'पीपा जी' के पुण्य रूपी अमृत की किरणें चारों और फैल रही थीं ।

सुर, असुर, सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नर, किन्नर, नाग, विद्याधर, भूत आदि सभी जिनके चरण कमलों की सेवा करते हैं ऐसी जगज्जननी भगवती के चरण कमल से निस्सृत मकरन्द का पान करने वाले, वैभव एवं विस्तार के साथ शाक्त जनोचित पूजोपकरण द्वारा अर्चना आराधना में एवं पञ्चमकारों पर आधारित साधना में विश्वास रखने वाले राजा पीपाजी स्वयं शक्ति पूजा करते थे और अपनी समस्त प्रजा को भी भगवती की आराधना हेतु प्रेरित करते थे ।

किन्तु वैष्णव आचार विचार की परिपक्व भावना से युक्त अन्तःकरण वाली सम्पूर्ण प्रजा नितान्त आस्तिक एवं भक्ति भावना से विभूषित थी । अतः एक मात्र भगवद् भक्ति पर आधारित जनता इस प्रकार की अर्चना पद्धति में रूचि नहीं रखती थी । किन्तु महाराज पीपाजी की इस प्रकार की

अर्चना पद्धति का समर्थन नहीं करते थे । महाराजकी ऐसी धारणा को परिवर्तित करने हेतु राज्य की जनता अपने इष्टदेव से प्रार्थना कर रही थी ।

विधि का विधान अतीव विलक्षण है । कौन जानता है कब किसकी भावना कैसी बन जाय । कौन जानता है कि परमेश्वर कब क्या करना चाहता है । कहा गया है कि 'नरो यत्कामयते न तन्नारायण:' मनुष्य जो चाहता है वह ईश्वर को पसन्द नहीं आता लोगों का सोचना कभी पूरा नहीं होता भगवान का सोचना या विचार शीघ्र ही फलित हो जाता है ।

एक बार दैव योग से सन्त महात्मा भ्रमण करते हुये श्रीपीपाजी महाराज की राजधानी में आ गये । महात्माओं के अपने नगर में निवास की बात सुनकर राजा अपनी पत्नी के साथ शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये । कारण यह था कि राजा ने नर एवं नारियों के मुख से उन सन्तों के विविध लौकिक तथा अलौकिक चरित्रों को सुना था और उसके हृदय में दर्शन करने का कुतूहल उत्पन्न हो गया था । महात्माओं के द्वारा भगवद् गुण वर्णन से लोगों के मन निर्मल हो गये थे । उससे उत्पन्न पुण्य से सभी के अन्त:करण में भक्ति रूपी सुधा सरिता प्रवाहित होने लगी थी । ऐसे महात्माओं के दर्शन एवं उनसे सम्भाषण की इच्छा राजा के अन्त:करण में जागृत हो गयी थी । भक्ति वैभव के विकास विलास एवं उल्लास के आनन्द से राजा का अन्त:करण भर गया । राजा के हृदय में उन महात्माओं की पूजा सत्कार का भाव जागृत हो गया और उन महात्माओं को श्रद्धा विनय एवं आग्रह के साथ अपने राज प्रसाद में पधारने का उन्होंने निवेदन किया ।

महात्माओं ने भी राजा की भक्ति भावना को देखकर अगले दिन आग्रह स्वीकार करते हुये राजभवन को अपने पदार्पण से सुशोभित किया । भगवच्चरणारविन्दों के ध्यान, स्मरण एवं संकीर्तन में संलग्न उन महात्माओं के मात्र पद विन्यास से ही वह सम्पूर्ण राजभवन एवं राज परिवार पवित्र एवं धन्य हो गया । वह राजा भी उनकी चरण रज के सेवन से नये रूप में परिवर्तित हो गया । अर्थात् उनका हृदय बदल गया । महात्माओं के तेजस्वी मुख मण्डल को देखकर उनके मुख से भगवद्भक्ति समन्वित हरि गुण वचनामृत को सुन सुनकर एवं अपरिमित तृप्तिदायक भक्ति सुधा रस को पी पीकर एवं भगवन्नाम की महामहिमा को हृदयंगम कर पीपाजी महाराज कृतार्थ हो गये ।

महात्मा भी राजा को सत्संग का अधिक समयन देकर सम्मानित होने के बाद भगवद् गुणों का कीर्तन करते हुये वहाँ से चल दिये । अधिक समय तक नहीं ठहरे ।

इस प्रकार क्षणिक सत्संग से ही राजा की हृदयग्रन्थि खुल गयी । पहले के सभी कार्य व्यापारों में परिवर्तन आ गया भगवन्नाम कीर्तन का ध्यान करते हुये राजा के मन में भगवज्जन समागम एवं सत्संग के अवसर प्राप्त करने की बार-बार उत्सुकता एवं इच्छा जागृत होने लगी । क्षणिक सत्संग से जो अपूर्व आनन्द प्राप्त किया था, उसी प्रकार के आनन्द का अनुभव प्राप्त करने के लिये उत्सुकता एवं विकलता बढ़ने लगी । अब बिना सत्संग के उन्हें कहीं भी शान्ति एवं सुख की अनुभूति नहीं हो रही थी ।

उक्तञ्च- **''सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।''**

'परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति न सदुपदेशम् ।

किञ्चः- **यास्त्वैषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि ॥**

कहा भी गया है कि- सत्पुरुषों की संगति मनुष्यों का क्या नहीं कर सकती है अर्थात् सब कुछ कर सकती है । और भी- सन्तों की सेवा करनी चाहिए यदि वे सदुपदेश नहीं देंगे तो भी उनका दैनिक क्रियाकलाप एवं आपसी वार्तालाप ही सत्शास्त्र तथा सदुपदेश होगा ।

इस प्रकार महामहिमा शाली महात्माओं के क्षणिक सत्संग के रंग से रंगे हुये अन्तःकरण वाले, निरन्तर एकान्त में भगवान का स्मरण करते हुये जीवन में आनन्द का अनुभव करने वाले, भक्तों के आगमन एवं सत्संग के माध्यम से अपरिमित आनन्द में निरत, भगवद् भजन में व्यवधान डालने वाले, मोह, मद, मात्सर्य, राग द्वेषादि से विरत रहने वाले, नित्य नैमित्तिक यज्ञ यागादि विविध कर्मों के अनुष्ठान से पवित्र चरित्र वाले भक्ति सुधा रस से परिपूर्ण विमल अन्तःकरण वाले परमहंसों के आगमन सुख की अभिलाषा रखने वाले क्षत्रिय कुलभूषण श्रीपीपाजी अपने इष्टदेव की उपासना से परम भागवत श्रीरामानन्दाचार्य जी की मानसिक शरणा गति ग्रहण करने के पश्चात् अपने मनोरथों की पूर्णता मानकर 'हे प्रभुराम ! मैं अपने कर्मों को निर्मूल करने में कब सक्षम हो सकूँगा' इस धारणा से युक्त होकर शीघ्र ही काशी पहुँचने के लिये कार्यक्रम निश्चित कर लिया ।

भगवच्चरणारविन्दों के स्मरण में अनुरक्त, भगवन्नाम जप से पवित्र अन्त:करण वाले पीपाजी के हृदय में सांसारिक माया मोह रूपी अन्धकार का विनाशकरने वाला विवेक रूपी दीप जल गया था और वे शीघ्र ही श्रीरामानन्दाचार्यजी के आश्रम में पहुँच गये ।

सद्यः गुरु आश्रम के द्वार पर पहुँचकर द्वारपाल के माध्यम से अपने आगमन का समाचार एवं गुरुचरणों के दर्शन की बलवती अभिलाषा को संप्रेषित किया ।

लौट कर आये हुये द्वारपाल के मुख से ही अमृत की प्रति स्पर्द्धा करने वाले, मनोरथ सिद्धि की सूचना देने वाले, विवेक जागृत करने वाले एवं अपने कृपा पात्र के अनुरूप श्रीगुरु चरणों के कृपामय सरस वचनों को सुना ।

''जब तक दृढ़तर वैराग्य भावना का सूचक, अज्ञान रूपी अंधकार का विनाशक, सर्वसाधन विहीन दीन भावना रूपी सूर्य का प्रकाशक ज्ञान नहीं उत्पन्न होता, तब तक गुरु के पास आकर उनकी शरण ग्रहण करने की पात्रता अपरिपक्व एवं कषाय मति वाले जनों को प्राप्त नहीं हो पाती'' यह सुनकर सद्‌भावनापूर्वक साधु जनों के सत्संग करने वाले महाराज 'पीपाजी' शीघ्र ही गुरुचरणों के अभिप्राय एवं आज्ञा को समझकर शीघ्र ही अपने राजसी परिधान को त्याग कर, अमूल्य रत्नाभरणों को उतार कर तथा सेवकों को हटाकर सामान्य जन की वेषभूषा श्वेत रेशमी वस्त्रों को पहनकर तथा मस्तक पर तिलक धारण कर राजा होते हुये भी सदैव श्री रामचन्द्र जी के चरणारविन्दों में आसक्ति रखते हुये, निशिदिन भगवन्नाम संकीर्तन में निरत एवं साधु मण्डली के सत्संग में रत रहते हुये तारक मन्त्र दीक्षा ग्रहण करने के अनुरूप पात्रता अर्जित कर सुखद एवं ज्योतिषियों के द्वारा निर्दिष्ट शुभ मुहूर्त्त में नियमानुसार पंच संस्कार विधि विधानपूर्वक षडक्षर मन्त्र राजमयी (श्रीराममंत्रमयी) दीक्षा प्राप्त करने हेतु आदेशित स्थान एवं वेष में पहुँचकर पूर्ण मनोरथ हो गये । पीपा जी महाराज प्रसिद्ध भक्तराज बन गये और श्रीरामानन्दाचार्य जी के अनन्य प्रिय सेवक हो गये ।

एक बार श्री रामानन्दाचार्य जी ने अपने नवीन शिष्य जो राजवंश में उत्पन्न हुये थे फिर भी साधु समाज में रहकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे ऐसे पीपाजी को अपने पास बुलाकर प्रेमपूर्वक कहने लगे-राजन् !

आपका अपने राज्य कार्य भार को छोड़कर यहाँ आये हुये काफी समय व्यतीत हो चुका है । रानियाँ वियोग से व्याकुल एवं आपके दर्शन सेवा से वंचित होकर चिन्तायुक्त होंगी । भगवद् भक्त आपसे वे अकारण ही दुखी की जा रही हैं । अतः उन्हें आपको अपने दर्शन एवं भक्त मंडली के नाम संकीर्तन आदि महा महोत्सवों के आयोजनों से तथा अपनी नित्य नैमित्तक दिनचर्या से इस दिशा की ओर आकर्षित करना चाहिये । प्रतिदिन श्री राम की अर्चना अनुरक्ति एवं भक्ति विवेक के उल्लास एवं सत्संग के आनन्द में निरत अपने आपको दिखाकर टूटे हुये आस और विश्वास वाले लोगों को सान्त्वना प्रदान कर, आनन्द कंद श्रीराम भक्ति के प्रवाह से उन्हें पूर्ण कर उत्कंठित राज्य की जनता को सुखी कीजिये ।

वहाँ अर्थात् राजधानी में पहुँचकर आगन्तुक अतिथियों एवं भगवद् भक्त जनों के स्वरूप, गुण एवं वैभव के अनुसार अपने सेवकों के साथ सद्भाव, श्रद्धा, उल्लास एवं भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिये । कुछ समय तक उनकी रक्षा का प्रबन्ध कराते हुये उनके साथ सत्संगवार्ता, भगवद् गुण कीर्तन, स्मरण एवं सत्कथाओं के कथन से स्वयं आनन्दित होते हुये प्रजा को भी सत्संग से लाभान्वित कराओ । कृपापूर्वक एवं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे कल्याण की समृद्धि के लिये ही तुम्हारी प्रजा की अभिलाषा के अनुरूप उनकी मनोरथों की सिद्धि हेतु ही मैं तुम्हें आदेश दे रहा हूँ । अतः गुरु आज्ञा के अनुरूप ही कार्य करो इसी में तुम्हारा कल्याण है । उत्कंठित भगवद् भक्तों के भी मनोरथों को पूर्ण करो ।

इस प्रकार गृह जाने के लिये उद्यत न होने पर भी 'आज्ञा गुरुणामविचारणीया' सिद्धान्तानुसार राजधानी लौटने की प्रक्रिया का आरम्भ करने वाले राजा पीपा जी बार-बार गुरुचरणों में वंदना करते हुये तथा आँखों से अश्रुपात करते हुये अपलक दृष्टि से जब गुरुजी की ओर देखते ही रहे तब उनके हार्दिक भाव को जानकर श्रीरामानन्दाचार्य ने आश्वस्त करते हुये उनसे कहा- राजन् ! तुम अन्यथा कुछ भी न सोचो । मैं भी एक दिन तुम्हारी राजधानी का अवलोकन अवश्य करूँगा । ऐसा वरदान पाकर पीपाजी महाराज पुनः अपनी राजधानी में पहुँच गये ।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

श्रीरामानन्द जी की तपस्या के प्रभाव से संवर्द्धित अद्भुत चमत्कारों का वैभव चारों कोनों में फैल गया। उनकी कीर्ति रूपी लता के सुरभित एवं मनोहर दिक् दिगन्त व्यापी माहात्म्य को सुनकर श्रद्धा सम्पन्न दीक्षा ग्रहण के इच्छुक मुमुक्षु जन झुण्ड के झुण्ड वहाँ आने लगे। कुछ सत्संग के लिये कुछ अध्ययन के लिये तथा बहुत बड़ी संख्या में दीक्षा एवं वचनामृत का पान करने के लिये, एवं बहुत से लोग अपने उद्धार के लिये वहाँ आने लगे।

उनमें से बहुत से ऐसे भी थे जो उन्हीं के आश्रमवासी छात्र थे वे श्रीराम मन्त्र से दीक्षित हो गये। बहुत से वे लोग थे जो उनके मुख से निकले हुये दो अक्षरों के राम नाम मन्त्र को ही प्राप्त कर श्रद्धा युक्त होकर सन्त महात्मा बन गये-जैसे कबीर, रैदास, धना जी सैन आदि ऐसे ही शिष्य थे। बहुत से नियमित पंच संस्कारों से अलंकृत होकर एवं तारक मन्त्रों से अपना उद्धार करके सिद्ध एवं समृद्ध हो गये। जैसे श्री अनन्तानन्दाचार्य, सुखानन्दाचार्य, सुरसुरानन्दाचार्य, नरहरियानन्दाचार्य एवं स्त्री शिष्यों में पद्मा जी इत्यादि। प्राय: ये सभी श्रीराम भक्ति के प्रचारक जनकल्मषहारक भगवन्माहात्म्य प्रचारक एवं लोकोद्धारक हुये हैं।

कुछ ऐसे भी लोकोद्धारक हुये हैं जो उस समय के दुष्ट दुराचारी यवन शासकों के उग्र स्वभाव से उद्‌वेजित एवं उनके आतंक से त्रस्त हो जाने वाले लोगों को भी यथाशक्ति सन्मार्ग का अनुसरण करने के लिये तथा सब प्रकार से समर्थ दुष्ट शासकों के मन में भी सद्भाव जागृत करने के लिये शतश: प्रयत्नशील रहे। महाकवि होकर भी अपनी कविता के कौशल से पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने के लिये बार-बार उपदेश दिये जैसे कबीर आदि महापुरुष। जो भगवान की प्रेरणा से भगवान के महत्त्व को प्रकाशित करने के लिये ही जन्म लेकर अद्भुत कर्म करते रहे। ये सभी पुराण पुरुष के ही अवतार थे। सुना जाता है कि कबीर भी एक ब्राह्मण कुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुये थे। उसने लोकापवाद के भय से अद्भुत

स्वरूप वाले उस बालक का परित्याग कर अपने मातृ स्नेह से उसे वंचित कर दिया था । किन्तु भगवान ही जिसकी रक्षा करें उसे मारने में कौन समर्थ हो सकता है, इसलिये कुछ क्षणों के बाद ही वहाँ कोई यवन दम्पती आकर कुसुम सुकुमार उस बालक को देखकर निस्संतान होने के कारण भगवान द्वारा प्रदत्त मानकर उस बालक का घर में पालन पोषण किया । वहीं बालक कबीर यवन जननी जनक द्वारा पालित होने के कारण यवन जाति की संज्ञा कबीर नाम से प्रचलित हो गये । यद्यपि उनमें रामानन्दाचार्य के शिष्यत्व की भावना अतीव बलवती थी किन्तु सनातन धर्म की मर्यादा पालन के अनुरूप यवनों की दीक्षा का विधान नहीं है, यह समझकर दीक्षा विधि से वंचित रह जाने की व्यथा से खिन्न कबीर शिष्य बनने की दृढ़ भावना के कारण गंगाजी के स्नान तट में ही सीढ़ियों के मार्ग में कुण्डली मारकर स्वल्प वय वाले कबीर जिन्होंने अपूर्व भक्त हृदय प्राप्त किया था, सो गये । वे इस प्रकार लेटे थे कि दिखाई नहीं पड़ रहे थे । ऐसा प्रयत्न करने पर अपने चिन्तन के अनुसार उन्हें सफलता प्राप्त हो गयी ।

जब श्रीरामानन्दाचार्य स्नान के लिये आये तभी उनका कोमलतम पादाघात सीढ़ियों से अपने अंग को सटाये हुये और बिल्कुल ही न दिखाई देते हुये उनके शरीर पर हुआ । अपने बाल्यभाव का प्रदर्शन करते हुये उन्होंने रोना प्रारम्भ कर दिया । सहज दयालु हृदय श्री रामानन्द प्रेमपूर्वक बोले-बेटा रोओ नहीं । श्रीराम राम कहो । रोदन बन्द कर दो । ऐसा कहकर वे अपने क्रियाकलाप में संलग्न हो गये । यह बालक कबीर तभी से श्रीरामानन्दाचार्य को अपना गुरु मानकर और दो अक्षरों के मन्त्र राम राम को दीक्षा मन्त्र समझकर रात दिन जप करते हुये सिद्ध महात्मा बन गये । भक्त कबीर ने हिन्दू एवं मुस्लिम में एकता की भावना जगाने के लिये लगातार प्रयत्न किया । निर्गुण सिद्धान्तमयी अपनी काव्यधारा का प्रवर्तन किया । यह कार्य भी दोनों धर्मों में एकता स्थापित करने के लिये था । उन्होंने दोहा छन्दों के माध्यम से कहा है ।

भगवान की भक्ति का निरन्तर स्मरण कराने वाले कबीर ने कहा कि भक्ति के मार्ग में सभी का समान रूप से प्रवेश का अधिकार है । इच्छानुसार अधिक से अधिक भक्ति करने के लिये समस्त प्राणिमात्र समर्थ हैं । इतना ही नहीं निर्गुणोपासना, भगवान से मुक्ति प्राप्ति की कामना तथा उनकी करुणा

कृपा की याचना भी कबीर को मान्य थी। ईश्वर की उपेक्षा करने से ही जीव संसार सागर में पतित होकर बार-बार जन्म मरण के विशेष योग को भोगते हैं। मात्र भगवत्कृपा से ही जीवों का उद्धार सम्भव है। इस तथ्य को अत्यन्त स्पष्ट रूप से कबीर ने अपने काव्य में दोहा एवं छन्दों के माध्यम से वर्णित किया है।

१. ''भक्तिमहल बहु ऊँच है, दूरहिं ते दरसाय। जो कोई जन भक्ती करै, सौभा बरनि न जाय॥

२. ''भक्ति गेंद चौगान की, भावै कोइ लै जाय। कहै कबीर कछु भेद नहिं, कहा रंक कहँ राय।

३. सबहीं तरुतर जाइकै, सब फल लीन्हौं चीख। फिर फिर माँगत कबीर है, दरसन की ही भीख।

४. सुरति करो मेरे साँइयाँ हम हैं भवजलमाहिं। आपे ही वह जायेंगे, जो नहिं पकरौ बाँह॥

५. राम रहीमा एक है, नाम धराया दोय। कहै कबीर दो नाम सुन भरम परौ मत कोय।

६. दिन भर रोजा रहत है, रात हनत हैं गाय। यहै खून वह बन्दगी, क्यों कर खुसी खुदाय।

परस्पर विरोधी आचरण वाले तथा दुराग्रहों से ग्रस्त अनेक धर्मों से द्वेष रखने वाले हिन्दू एवं मुसलमानों के लिये कबीर ने समन्वयवादी काव्य रचना करके मुस्लिम सभाओं में बार-बार सुनाते हुये राम रहीम तथा ब्रह्म एक हैं यह कहकर नाम भेद के भ्रम को दूर कर दिया था। दोनों धर्मों का उपास्य भगवान एक है उसमें भेद नहीं है। केवल नामों में ही भेद दिखाई पड़ता है। इस प्रकार के द्वेषमूलक भावना को शुद्ध करने का प्रयत्न करने वाले कबीर समाज सुधारक तथा पारस्परिक भेदहारक सिद्ध हुये। ''वर्ण और आश्रम के अनुसार विहित अपेन-अपने कर्म को करता हुआ मनुष्य संसिद्धि अर्थात् परम् पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है'' किसी भी तरह से किसी की आत्मा को दुखी न करना रूप अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है'' इत्यादि सिद्धान्तों का परिपालन करते हुए और उसी प्रकार की भावना का प्रचार प्रसार करते हुए, भगवान् की भक्ति के लिए सबको प्रेरित करते हुए

और यवन बन्धुओं को सम्बोधित करते हुए स्वयं डिमडिम घोष के द्वारा घोषित करते हैं-

"अपने-अपने कर्म को करते हुए मनुष्य सफलता को प्राप्त करता है एवं उसी प्रकार की भावना का प्रसार अहिंसा श्रेष्ठ धर्म है।" इन सिद्धान्तों का पालन एवं प्रसार कबीरदास जी ने किया। और भगवद् भक्ति के लिये सबको प्रेरित करते हुए मुसलमानों के लिये उन्होंने घोषणा की थी-

"न जातिभेदो न च कर्मभेदो, नोपसनाभेद इहास्ति भक्तौ।
नैवोच्चनीचो यवनादि भेदो हरिं भजेद्य स हरिप्रियोऽसौ॥"

भगवद् भक्ति में जाति, कर्म, उपासना, ऊँच, नीच और यवन (इतर धर्म) आदि का भेद नहीं है अपितु जो भी श्रीराम का प्रेम से भजन करता है वही श्रीहरि का प्रिय होता है।

उनतीसवाँ परिच्छेद

श्रीरामानन्द जी की आज्ञा प्राप्त कर परमभागवत श्रद्धा जन्य भगवद् भक्ति रस से परिपुष्ट क्रिया कलाप वाले श्री पीपाजी का नित्य साकेत विहारी के चरणों में अनुराग बढ़ता जा रहा था । प्राय: नित्य ही आने वाले महर्षियों एवं महात्माओं की सेवा से उनके हाथ पवित्र होते रहते थे, निरन्तर सत्संग के रंग से उनका अन्त:करण रंगा हुआ था । भगवद् गुणगान एवं श्रीराम नाम की ध्वनि से आवास सदैव गुंजित रहता था । विविध प्रकार के आयोजित किये जाने वाले भक्ति समारोहों में सम्पूर्ण नागरिक सम्मिलित होकर भक्ति एवं विवेक का उपार्जन कर रहे थे । अन्त:पुर में समस्त नगर की महिलायें भी रात दिन एकत्रित होकर महिला मण्डल सत्संग का आयोजन कर रही थी । इस प्रकार उनमें भी भक्ति भावना बढ़ रही थी । भक्तराज श्री पीपाजी महाराज जैसे ही अपनी राजधानी में प्रविष्ट हुये वैसे ही तुच्छजनों से लेकर महापुरुषों तक में उल्लास एवं आमोद-प्रमोद का वातावरण तरंगायित होने लगा । श्रीराम भक्ति की सुधापयस्विनी घर-घर में प्रवाहित होने लगी । वनों, उपवनों एवं वाटिकाओं में तुलसी वन दिखाई पड़ने लगे । स्थान-स्थान पर सत्संग भवनों की स्थापना के साथ-साथ सभी साधन-सामग्रियों से युक्त भगवद् कीर्तन एवं भगवद् भक्ति महायज्ञ प्रारम्भ हो गये । सम्पूर्ण प्रजा जनों के घर में आये हुये अतिथि गण विद्वज्जनों एवं भक्तिभावना भरित साधुजनों की आराधना गृहस्थ का परम धर्म है इस प्रकार की कर्त्तव्य भावना का जागरण राजा पीपा जी कर रहे थे । उल्लास, सौजन्य एवं सहृदयता आदि गुण सम्पूर्ण नगर में व्याप्त थे । उन्होंने अपनी नगरी को देवनगरी (सुरलोक) की ही भाँति परम भगवद् भक्त, श्री हरि के चरणों में अनुरक्त, यजन यज्ञ उपासना तथा गो ब्राह्मण की अर्चना से सौभाग्यवती बना दिया था ब्रह्मा के बनाये हुये सभी लोकों से उसकी रचना सुरम्य थी और गुण गौरव से प्रणम्य थी ।

इस प्रकार समस्त भूमण्डल के कोने-कोने में उनकी यश चन्द्रिका फैल गयी । कीर्तिलता के सुरभित पुष्पों की सुगन्धि से दिग् दिगन्त भर गये

जिसकों सूंघ-सूंघ कर समस्त । साधु समाज एवं विद्वज्जन प्रसन्न थे और भक्तजनों के मनरूपी हंस के लिये कैलाश मानसरोवर से दुगुण धवल चन्द्रमा के समान यहाँ के निवासियों के यश रूपी चन्द्रमा की किरणें चारों तरफ फैल रही है ।

जैसे वर्षा ऋतु में आकाश के बादलों से गिरती हुई जलधारा सम्पूर्ण विश्व को तृप्त कर देती है किन्तु चातक आकाश की ओर मुख करके मात्र स्वाति बिन्दु की ही कामना किया करता है । प्यासा होते हुये भी वह मेघ जल बिन्दुओं को ग्रहण नहीं करता । दूसरा जल उसके योग्य नहीं होता ।

ठीक इसी तरह दिग् दिगन्त में अपनी कीर्ति फैल जाने पर भी अभी पीपा जी के हृदय में सुस्थिर शान्तिरूपी मधुकरी गुंजार नहीं कर रही थी । पशरूपी सुगन्ध से मुदित होकर भी पृथ्वी तल पर सन्तोष जन्य परमानन्द की गन्ध का लेश भी नहीं पा रहे थे । वे रात दिन यही सोचते रहते थे कि मेरे भाग्य रूपी सूर्य का उदय कब होगा जब करुणा सागर मेरे गुरुवर श्रीरामानन्द महाराज मुझसे सनाथ होते हुये अनाथ की भाँति तथा उनके दर्शनार्थ उत्कण्ठित कामिनी की भाँति इस नगरी को अपने चरण कमल के पराग से अलंकृत करते सुशोभित एवं पवित्र करेंगे । तथा अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से इसे आभूषित करेंगे । तथा अपने भक्ति भाव से परिपूर्ण अपनी वचनामृत रूपी गंगा को प्रवाहित करेंगे । श्रोताओं के श्रवणपुटों को सन्तुष्ट करेंगे तथा जन मन के सन्ताप रूपी अन्धकार को दूर कर सभी के हृदय में नये-नये श्रीराम भक्ति के अंकुर उत्पन्न करेंगे ।

श्रीपीपाजी महाराज को श्रीराममन्त्रमयी दीक्षा लिये हुये अब दस माह हो चुके हैं । माघ मास की कृष्णपक्ष की सप्तमी अब निकट आ रही है, जिस दिन स्वामी रामानन्दाचार्य उत्पन्न हुये थे । अपने गुरुजी के प्रति परमश्रद्धा एवं भक्ति की अतिशयता को सम्पूर्ण नगर में प्रकाशित करने का यह सुनहरा अवसर आ गया है यह जानकर श्री गुरुचरणों की जयन्ती समारोह को राजकीय महोत्सव के रूप में मनाये जाने की घोषणा पूरे राज्य में महाराज ने कर दी ।

राजभवन के निकट विशाल प्रांगण में एक हजार की संख्या से भी अधिक स्तम्भों से सुशोभित विस्तृत महामण्डप का निर्माण किया गया था ।

चारों ओर अनेक रंगों के रेशमी वस्त्रों से बने हुये तथा हवा में लहराते हुये झंडे सुशोभित थे । अनेक प्रकार के सोने और चाँदी के सूत्रों में बँधे हुये मोतियों के गुच्छे अपूर्व शोभा को धारण कर रहे थे । स्थान-स्थान पर कलश, तोरण एवं पताकाओं के माध्यम से भगवान की लीला से सम्बन्धित मनोहर चित्र अंकित थे । राजसमूह, विद्वत् समूह एवं महान महिमाशाली भक्त महात्माओं के लिये उनके स्वरूप के अनुरूप शोभाप्रद आसन तथा राजकीय कुर्सियों की व्यवस्थित व्यवस्था मध्यभाग में की गयी थी । बीच में एक उज्जवल ऊँची सोने की चौकी थी जो सुन्दर रत्नों से सुशोभित थी उसके ऊपर भगवान की चित्रावली स्थापित थी । उसी के बगल में एक ओर एक बहुत बड़ी चौकी के ऊपर श्रीरामानन्दाचार्य जी की चरण पादुकायें स्थापित थीं । मण्डप के मध्य भाग में अत्यधिक ऊँचे एक महान सुवर्ण दण्ड के ऊपर श्रीहनुमान जी के चित्र से चित्रित लाल रेशमी वस्त्र की पताका फहरा रही थी । मण्डप के चारों ओर हजारों पताकायें सुशोभित थीं ।

इसके बाद महोत्सव समारोह प्रारम्भ हो गया । सात दिन पहले ही माघ कृष्ण प्रतिपदा के दिन श्रीरामानन्दाचार्य की पादुकाओं की प्रतिष्ठा, नगर की परिक्रमा करते हुये महान उत्सव के साथ सम्पन्न हुई । राजपुरुषों के द्वारा अनेक प्रकार के मुख से फूँककर बजाये जाने वाले वाद्ययन्त्रों के साथ-साथ नगाड़े, भेरियाँ वेणु, झालर घंटे, काष्ठतरंग, जलतरंग एवं वीणा के तार स्वरों सेमहान प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हो रही थी । नागरिक भक्त जनों के द्वारा आयोजित कीर्तन मण्डली अपने मधुर कंठ से भगवद् गुणगान कर रही थी । एक ओर अन्त:पुर की महिलाओं द्वारा बीच-बीच में आनन्दयुक्त प्रेमयुक्त एवं भक्तिभाव पूर्ण भगवच्चरित सम्बन्धी पदों के गायन से आमोद-प्रमोद की रसवन्ती सरिता प्रवाहित हो रही थी । महिला मण्डल अपने मधुर कंठ से मांगलिक गीत प्रस्तुत कर रहा था । सम्पूर्ण मानव समाज सुन्दर वस्त्रों एवं आभूषणों से सुसज्जित था । महिलायें अनेक प्रकार के रत्न जटित आभूषण धारण किये हुये थीं । सैनिक अपने-अपने अस्त्रों एवं शस्त्रों से सुसज्जित थे । इस जयन्ती महोत्सव में हाथियों, घोड़ों, रथों एवं ऊँटों की शोभा यात्रा दर्शनीय थी । सम्पूर्ण नगर विविध वाद्ययन्त्रों से एवं मांगलिक गीतों के गायन से गुंजित था । भक्त जनों के भजनों से भावनामय, कीर्तन मण्डली के द्वारा प्रस्तुत भगवद् गुणों के श्रवण से सहस्त्र कर्णमय, और दूर दूर से आये हुये

दर्शनार्थियों से वह मण्डप जनतामय हो गया था । नगर में स्थित नर नारियों के अपलक दृष्टि से उस शोभा को देखते रहने के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानों यह नगर हजार-हजार नेत्रों से सबका निरीक्षण कर रहा हो ।

जामुन, मौलश्री, अशोक एवं आम्र के नूतन पल्लवों से विरचित एवं नवमल्लिका से सुशोभित केसर एवं कमल आदि के गुच्छों से आच्छादित वह प्रांगण ऐसा प्रतीत होता था जैसे सम्पूर्ण वसन्त ऋतु की शोभा यहाँ एकत्रित होकर दिव्य द्युति को धारण कर रही हो ।

अनेक प्रकार की पूजन सामग्री से सुसज्जित, पात्रों में फल, फूल, धूप, दीप, गन्ध, नैवेद्यादि उपयुक्त पक्वान्न परिपूर्ण थे । ऋतुफल, पूगीफल, (सुपारी) नारियल से युक्त रत्न जटित सुनहरी चौकी के ऊपर वैदिक, तांत्रिक एवं पौराणिक मन्त्रों की विधि से तथा स्वर्ण शलाका से लिखित षड्दल के ऊपर श्रीरामचन्द्र जी के विग्रह को स्थापित कर स्वर्ण कलश में स्थित गंगाजल एवं पंचामृत के द्वारा राजा महाराजाओं के उपचार विधान से श्रीरामार्चा सम्पन्न करने के बाद श्री आचार्य वर की पादुकाओं का पूजन नैवेद्य, ताम्बूल नारियल सुवर्ण, पुष्प एवं दक्षिणा के साथ सम्पन्न हुआ । कर्पूर युक्त हजारों बत्तियों एवं दीपों से नीराजन हुआ । भक्ति एवं मन्त्रोच्चारणपूर्वक अपनी रानी एवं सम्पूर्ण राज समाज तथा नगर निवासियों के साथ पूजन प्रकार में दक्ष पंडित पीपा जी महाराज ने विधिपूर्वक आरती की ।

इस प्रकार प्रतिपदा तिथि से सप्तमी तक प्रतिदिन श्रीरामार्चा विधान एवं पादुका पूजन यथोचित समय पर सम्पन्न होता रहा । समागत विद्वानों, महापुरुषों एवं सन्तों के भक्तिभावपूर्ण भाषण, धर्मोपदेश, विज्ञानवार्ताओं के साथ-साथ पुराण, गीता, रामायणादि प्रसंगों पर आधारित प्रवचन भी सम्पन्न होते रहे ।

आयोजन समाप्ति के दिन महाराज पीपा जी नियमपूर्वक श्रीरामार्चा, श्रीपादुका पूजन एवं नीराजन के पश्चात् जैसे ही भक्ति भावपूर्ण हृदय से श्रीराम प्रणाम स्तोत्र का पाठ करके श्रीगुरुवन्दना प्रारम्भ की वैसे ही अचानक भक्ति के प्रबल उद्रेक के कारण पास में स्थित आत्मीय जनों ने देखा कि महाराज के नेत्र बंद हो गये हैं, अश्रुधारा से शरीर भीग गया है, श्वास रुद्ध हो गया है शरीर निश्चल हो गया है । ऐसा अद्भुत योगाचार जैसा

दृश्य उपस्थित हो जाने पर क्षण भर के लिये सम्पूर्ण क्षुब्ध वातावरण शान्त सा हो गया ।

महाराज की अर्ध समाधि की ध्यानावस्था में उन्हें श्रीरामानन्द जी के दर्शनों की अनुभूति हो रही थी । आनन्दित हृदय वाले महाराज मानों गुरुमुख से अपनीं चिर अभिलाषा की पूर्ति का वरदान सुन रहे थे- भक्त प्रवर ! तुम विशेष चिन्तित न हो । मैं शीघ्र ही तुम्हारे पास तुम्हारे नगर में आऊँगा । एतदर्थ तुम किसी अपने आत्मीय जन को भेजो जो मार्ग दर्शक के रूप में मुझे तुम्हारे स्थान तक ले आये ।

इस प्रकार सहसा अद्भुत वरदान प्राप्त कर दर्शन के साथ-साथ अलौकिक चमत्कार को देखकर श्री पीपा जी हर्ष, उल्लास एवं आनन्दपूर्वक अपने द्वारा आयोजित इस महायज्ञ को पूर्ण एवं सफल मान लिया । निर्देशानुसार एक आत्मीय जन को काशी भेज दिया ।

तीसवाँ परिच्छेद

श्रीपीपा जी महाराज के द्वारा प्रेषित वह राज भक्त दूत श्रीराम भक्त हनुमान जी की भाँति वेग से काशी की ओर बढ़ रहा था । यद्यपि उस मार्ग में घनघोर जंगल था जहाँ चारों ओर सिंह, वाराह, हिरण, भेड़िये, भालू, श्रृगाल और वानर घूम रहे थे । अपनी गुफाओं में सोने और जागने वाले सिंह व्याघ्रों से भयंकर कँटीले वृक्षों से आच्छादित गहन पर्वतों वाले, ऊँचे, नीचे, टेढ़े, सीधे तथा पर्वतीय चट्टानों के खिसकने से अवरूद्ध मार्ग वाले उस जंगल में अनेक बाधाओं के होते हुये भी बिना रूके हुये उत्साह एवं साहसपूर्वक आगे बढ़ता हुआ अखण्ड रूप से ही राम नाम महामन्त्र का स्मरण करने से बढ़ी हुई शक्ति से सम्पन्न, कुशलपूर्वक वह राजदूत सभी वाहनों एवं राजसेवकों के साथ महान गौरव गरिमा से मण्डित काशी नगरी में पहुँचकर श्रीरामानन्दाचार्य के आश्रम को प्राप्त कर लिया । अपने वाहन घोड़े आदि यथास्थान बाँधकर श्रीरामानन्द जी के चरणों के समीप पहुँचकर नियमानुसार शिष्टाचार के अनुरूप प्रणामादि करने के पश्चात् श्री पीपा जी के द्वारा प्रेषित राजकीय मुद्रा (सील) से चिह्नित भक्ति भाव से परिपूरित प्रार्थना एवं नम्रता से युक्त एक सुन्दर पत्र भी गुरुचरण में निवेदित कर श्रीपीपा जी द्वारा किये गये मौखिक निवेदक एवं समाचार कथन से अवगत करा कर साथ में ही राजधानी चलने और वहाँ के नागरिकों को अपने दर्शन स्पर्शन तथा प्रवचन से अनुगृहीत करते हुये सभी की मनोकामनाओं को पूर्ण करने भगवद् भक्ति भावना की प्रकाशित करने, अपने पवित्र चरण कमलों के पराग से समस्त राजधानी को पवित्र करने हेतु प्रार्थना की ।

श्रीरामानन्दाचार्य ने सभी लोगों को समुचित शुभाशीष से अभिनन्दित कर सभी के भोजन, निवास आदि की तदनुरूप व्यवस्था कराकर वाहनों के लिये भी राज्योचित्त व्यवस्था सम्पन्न करा दी । उन सबके विश्राम के लिये सभी साधनों आसन एवं भोजनादि की व्यवस्थाओं से युक्त अपनी अतिथि शाला में स्थान दे दिया । नगर निरीक्षण, गंगा स्नान श्री विश्वनाथादि देव दर्शन इत्यादि तीर्थ के अनुरूप अनुष्ठान विधान की क्रिया को सम्पन्न करने की आज्ञा देकर तथा समागत अतिथियों के सहयोग के लिये अपने सेवकों को नियुक्त कर अगले दिन श्रीरामानन्दाचार्य जी ने उनके साथ जाने के लिये

अपने विद्वद् मण्डली, अपने सहचर और साथ में जाने वाले भक्तों को परम श्रद्धालु भक्तवर श्री पीपाजी की राजधानी 'गांगरौनगढ़' प्रस्थान हेतु आज्ञा प्रदान कर दी ।

मार्ग में प्रत्येक स्थान पर प्रसारित उपदेशों तथा श्रीरामनाम मन्त्र के महत्त्व को उद्घोषित कर सभी लोगों के मन को मोहित करते हुये, प्रतिनगर, प्रतिग्राम और प्रत्येक मनुष्य के भीतर श्री राम भक्ति भावना की आनन्दकारिणी प्रवृत्ति को विकसित करते हुये जनता के सुप्त हृदयों में श्री भगवान के चरणारविन्दों के प्रति अनुराग जागृत करते हुये सभी लोग आगे बढ़ रहे थे । श्रीरामनाम संकीर्तन के अद्‌भुत अमृतपान की रूचि के साथ-साथ, भगवत् कथा श्रवण, दर्शन, प्रवचन एवं सत्संग के प्रति जनता में अनुराग भरते हुये महिला सत्संग मंडलों की स्थापना का कार्य भी कर रहे थे । नवयुवक भक्ति प्रचार सत्संग मंडल प्रसार महा समिति की स्थापना तथा वयस्कों के लिये हितकारी धर्मोद्धार महासंघ की स्थापना भी की गयी । वृद्ध एवं अशिक्षित ग्रामीणों को तथा सत्संग से अब तक वंचित रह जाने वाले लोगों के लिये ज्ञान विज्ञान से सम्बन्धित चित्र प्रदर्शनी दिखाते हुये दैनिक प्रवचन कार्यक्रम से लोगों को आनन्दित करते हुये बीच-बीच में रात्रि विश्राम करते हुये चल रहे थे ।

इस प्रकार धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुये श्री स्वामी जी भक्तों की इच्छाओं को पूर्ण कर रहे थे । श्री रामभक्ति का उपदेश देते हुये, भक्त जनों के प्रश्नों का उत्तर देते हुये मार्ग भ्रष्ट लोगों को सन्मार्ग दिखाते हुये कर्म विपाक के कारण शोक संतृप्त तथा पाप ताप परितप्त जनों को अपने अमृत तुल्य सदुपदेश से सुखी करते हुये आगे बढ़े । विविध रसों एवं भावनाओं से परिपूर्ण श्रीराम चरितावली की अनुभूति से मार्ग की थकावट दूर हो रही थी । तभी चलते हुये किसी ग्राम के निकट बहुत बड़ी लोगों की भीड़ से उठने वाला महान कोलाहल सुनाई पड़ा ।

श्रीगुरुचरणों को जिज्ञासा हुई, और इसके सम्बन्ध में एक श्वेतवस्त्रधारी सेवक के द्वारा निवेदन करने पर श्री रामानन्दाचार्य जी शीघ्र ही उस स्थल में पहुँच गये । वह स्थल बेल, कदम्ब, मधूक,पाकर, नींबू, संतरा, मन्दार एवं पारिजात वृक्षों के समूह से सुशोभित था । अनेक मनोहर एवं सुगन्धित सुमनों से सुरभित तथा सुरम्य सदानीरा सरिता के तट पर स्थित था ।

भगवती महिषासुर मर्दिनी सकल सिद्धि प्रदात्री चामुण्डा देवी के मन्दिर का शरत्कालीन महामहापूजा महोत्सव उस समय चल रहा था ।

वहाँ अनेक विद्वान् विराजमान थे उनमें कुछ तो मोटे-मोटे रुद्राक्ष की माला का कंगन अपनी भुजाओं में धारण किये थे, कुछ सुन्दर भद्राक्ष एवं रुद्राक्ष की माला गले में धारण किये थे जिनके सुन्दर ललाट पर दिव्य त्रिपुण्ड्र मध्य में लाल चन्दन शोभा दे रहा है ये लोग चारों तरफ परिक्रमा भित्ति में संलग्न पट्ट पीठिका में प्रतिष्ठित हैं उनमें पौराणिक, वैदिक एवं कर्मकाण्ड परायण अनेक विद्वान सप्तशती पाठ में एवं शतचण्डी महायज्ञ के विधान में व्यस्त थे । मन्दिर के प्रांगण में, गणेश, मातृका, नवग्रह, चतुष्षष्टियोगिनी, काल भैरव, प्रधान सर्वतोभद्रादि, विविध पीठ निर्मित किये गये थे । महान श्रोत्रिय वैदिक ब्राह्मण चारों वेदों की ऋचाओं का सस्वर पाठ कर रहे थे । एक ओर महा मंत्र के जप करने वाले पण्डित माला मण्डित सिद्धों के समान सुशोभित थे । मन्दिर के बाहरी भाग में विशाल चहार दीवारी के बीच प्रांगण में चण्डिका को बलि देने हेतु अगणित बकरे अपने-अपने गृहाधिपतियों द्वारा लाकर उपस्थित किये गये थे । बकरों के विक्रेता व्यापारी भी एक ओर बेचने के लिये उनको बाँधे हुये थे । अनेक प्रकार की तिलक मुद्राओं वाले ब्राह्मण बलिदान हेतु लाये गये बकरों की पूजा लौकिक पौराणिक मन्त्रों से करा रहे थे उनको पुष्पमालायें धारण करते हुये उनसे यथेच्छ दक्षिणादान ग्रहण कर उन्हें आशीष दे रहे थे ।

चण्डिका देवी की पूजा कौलरीति सेकरनेके बाद देवी जी की आरती से पहले ही मन्दिर से बाहर निकल कर शाक्त शिरोमणि पुजारियों ने घोषणा की-

हे पराम्बिकाचरणकमलचञ्चरीक ! परमश्रद्धालु बलि चढ़ाने वाले भक्त गण ! अब आप लोग सावधान हो जाइए, शीघ्र ही-अब जगदम्बा श्री चामुण्डा की प्रसन्नता हेतु अपने-अपने लाये हुये पशुओं को आप लोग बलिदान हेतु प्रस्तुत करें । इसके बाद महाआरती का कार्य होगा । अतः अपनी-अपनी कामना के अनुरूप यथा श्रद्धा शक्ति से मन में संकल्पित अपनी-अपनी मान्यता के अनुरूप आचरणीय कार्य करें ।

सुनते ही अनेक सुदूर प्रान्तों से आये सैकड़ों ग्रामीणों एवं नागरिकों ने अपने-अपने बकरों को वध स्तम्भ के समीप लाकर हिंसक जनोंके समक्ष उपस्थित कर दिया मांसभक्षी लम्पट भक्त कहे जाने वाले हिंसाप्रेमी चारों तरफ से यूथ के यूथ दर्शक उपस्थित हो गये ।

बलिदान के द्वारा व्यर्थ में ही मूक प्राणियों की हत्या रूप क्रूरकर्म को सुनकर स्तब्ध कर्ण हृदयविदारक दुष्कर्म की कल्पना से सर्वाङ्ग में उत्पन्न ज्वर के कारण ज्वराक्रान्त की तरह कम्पित शरीरावयव, आगम के अनुरूप अहिंसा परमो धर्मः एवं मा हिंस्याः सर्वाभूतानि इस सिद्धान्त के समर्थक सकलजनानुकरणीय स्वामी रामानन्दाचार्य जी अचानक ही वहाँ आकर मतवाले हाथियों के झुण्ड में सिंह की तरह गरजते हुए बोले- अरे ! हिंसा निपुण योद्धाओं ! जगज्जननी श्री पराम्बिका के करुणा भाजन इस मौन, मूक एवं दीन हीन बकरों का वध क्यों कर रहे हो ? माँ भगवती के भक्त होकर आप लोग भी माँ भगवती के ही पुत्रों को मारकर उन्हीं को समर्पित करने के लिये तैयार हो ? क्या तुम्हारे इस प्रकार के कृत्य से जगदम्बा प्रसन्न होगी ? क्या हमारी जगदम्बा जो समस्त चराचर की माता है वे केवल बोलने वाले प्राणियों की ही माता हैं, मौन मूक प्राणियों की माँ नहीं हैं ? यदि वे सभी जीवधारियों की माँ हैं तो फिर ये जीव जो मनुष्यों की तरह बोलने में असमर्थ हैं क्या ये उस माँ के पुत्र नहीं है । यदि यह सम्पूर्ण सृष्टि उन्हीं से उत्पन्न है तो फिर पशु भी उन्हीं से उत्पन्न उन्हीं के पुत्र हैं ।

तो फिर वह माँ अपने ही भोले भोले मौन रहने वाले पुत्रों का वध कराकर टुकड़े-टुकड़े काटकर खाने में कैसे प्रसन्नता को प्राप्त करेगी ? क्या इस संसार में कोई माता ऐसी है जो अन्य पुत्रों के द्वारा मारे गये अपने ही पुत्रों को स्वयं खाने के लिये उद्यत हो जाय । अथवा उनके वध के लिये उसी के दूसरे भाईयों को प्रेरित करें ? अतः सहृदयता के साथ एवं करुणा दया की दृष्टि के साथ आप सभी देवी जी के भक्त गण विचार करें क्या यह कर्म उचित है ? कि एक भाई अपने भोले-भोले मौन मूक पशु शरीरी भाई के गले में चाकू का प्रहार कर उसे मार दे ? यदि विवेकशील आप जैसे लोग भी उचित और अनुचित जानते हुये भी इस प्रकार के दुष्कृत्य करेंगे तो फिर हठधर्मी उन मूर्ख लोगों के विषय में तो कहना ही क्या है ?

अतएव बन्धुजन अपनी जिह्वा की लोलुपता के कारण निर्दोष प्राणियों का वध करके और उसके रक्त से माँ अम्बिका को भी रंजित करके स्वाभाविक रूप से स्नेहमयी, वात्सल्यमयी, वरिष्ठ गुणमयी जननी को लांछित एवं कलंकित मत करें। यही मेरी करबद्ध प्रार्थना है।

नीति रीति के गुणों से गम्भीर, धीर अमृत सदृश श्रीरामानन्दाचार्य की पावन वाणी से उस यज्ञ में भाग लेने वाले वैदिक, याज्ञिक एवं विद्वान सभी हतप्रभ हो गये बलि लेकर आने वाले नागरिक एवं ग्रामीण जो वहां उपस्थित थे सभी स्तब्ध, और बद्ध की भाँति अवाक रह गये। अचानक हिंसकों के हाथ से तलवारें अपने आप नीचे गिर गयीं। निर्दोष बकरों को अपने स्वार्थ एवं लोभ के कारण मार डालने में उन सबको अपनी निर्दयता दिखाई पड़ने लगी। आचार्य के सदुपदेश से उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो गयी और वे स्वयं इस क्रूर कर्म से विरत हो गये।

इस प्रकार रंग में भंग हो जाने से सभी कार्य व्यापार सहसा रूक गये। खिले हुये बलिदान रूपी पुष्पों पर हिमपात हो गया। कौलकृत्य में विघ्न उपस्थित हो गया। अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों में बाधा पड़ते देख मद्यपान से प्रमत्त एवं क्रोधान्ध वह सिद्ध शाक्त भैरवनाथ शीघ्र ही गरज उठा- और अपशब्दों का प्रयोग करते हुये बोला-आप कौन हैं ? कहाँ से आये हैं? यह अनधिकार चेष्टा क्यों कर रहे हैं ? इसमें क्यों विघ्न डाल रहे हैं।

श्रीरामानन्दाचार्य- मुस्कराते हुये बोले-जिन क्रूरतम एवं नृशंस कृत्यों को धर्म मानकर आप स्वयं कर रहे हैं और दूसरों से भी करवा रहे हैं उसका अभिप्राय यह है कि आप तो स्वयं कूप में पड़े ही हैं अपने अनुयायियों को भी कूप में डाल रहे हैं, यह अच्छी बात नहीं है। क्या वह जगज्जननी अपने सामने ही भोले भोले मूक मौन अपने पुत्रों को इस प्रकार मारे जाते हुये देख सकती हैं। अत: जगज्जननी पराम्बा ने मुझे प्रेरणा दी कि मैं उन क्रूर दानवी आचरण वाले निन्दनीय नराधमों को देखूँ। इस नृशंस कर्म को समाप्त करने के लिये धर्म सेवक बनूँ। तथा यथा शक्ति इस प्रकार के दुष्कृत्यों की प्रवृत्ति को जनता के हृदय से दूर करूँ। इस प्रकार आचार्य वर का कथन भैरवनाथ की प्रचण्ड क्रोधाग्नि के लिये घी की आहुति के समान था। क्रोधाग्नि में जलने से विवर्ण मुख, तथा अस्त व्यस्त केशों वाला,

दाँत पीसता हुआ क्रोध के कारण काँपता हुआ वह भैरवनाथ बोला-तो क्या हम दानव हैं ?

परम्परा से चला आने वाला यह बलिदान विधानका कर्म क्या दानवीय है ? क्या इसी प्रकार देवी के खप्पर को खून से भरना, मांस मज्जा से तर्पण करना आदि कौलमत का विधान भी ऐसा ही है । क्या आज तक इसका व्यवहार करने वाले प्रवर्तक और प्रचारक सभी अज्ञ (मूर्ख) ही थे । क्या वे कुछ नहीं जानते थे ? एक मात्र आप ही ब्रह्मपद को प्राप्त विद्वान हैं । इस प्रकार सनातन धर्म के प्रति दुर्वचनों का प्रयोग करते हुये तुम्हारी जीभ क्यों नहीं कट जाती ।

श्री स्वामी रामानन्द जी ने कहा- राम राम श्रीराम ! अरे महामानव ! मद्य, मांस, रक्त की दुर्गन्धि से युक्त तुम्हारे इस वाचाल मुख से सनातन धर्म के नाम का उच्चारण पावन सनातन धर्म को दूषित कर रहा है । अरे तुमने तो सनातन धर्म की गन्ध भी अभी तक नहीं प्राप्त की है (स्वप्न में भी तुमने उसको अभी तक नहीं देखा) उसको या उसके सामने दूसरे धर्म को जो हमें शिक्षा देता है-आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत् जैसा व्यवहार हमें अपने लिये पसन्द न हो, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ भी हमें नहीं करना चाहिये । 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन अपने समान सभी को देखे सभी में सुख दुःख को समान माने । इत्यादि वाक्यों से हमें मानव धर्म की शिक्षा दी गयी है । 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये'' ये वाक्य हिंसा का निषेध करते हैं । सनातन धर्म में हिंसा का विधान कहीं नहीं है ।

यदि कहीं इस प्रकार के वाक्य प्राप्त भी होते हैं तो उनको प्रसंगवश ही समझना चाहिये । वे विशेष प्रवाह के अवरोधक वाक्य हैं । दुर्जन भी सन्तुष्ट रहें इस न्याय के प्रतीक हैं ।

जैसे किसी शराबी व्यक्ति के प्राणों को बिना मद्यपान के निकल जाने का सन्देह हो, तो उसके लिये प्रतिदिन एक बार पीने की आज्ञा कोई चिकित्सक दे भी सकता है । यह इसी तरह है । जैसे-'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'' याज्ञिक पशु का आलम्भन हिंसा नहीं है । इत्यादि वाक्य भी इसी प्रकार के हैं । यह एक प्रकार से बाल हठ का निवारण करने जैसा ही है ।

जैसे संसार में देखा जाता है कि खिलौने आदि दे देने से बच्चे को सन्तोष हो जाता है । उसी प्रकार राक्षसी प्रवृत्ति वालों के सन्तोष के लिये यह है कि अब इस प्रवृत्ति को वे आगे न बढ़ायें उतनी ही मात्रा तक सीमित रखें । इस प्रकार के वाक्य सिद्धान्त भूत नहीं कहे जा सकते । यदि कोई उन्हीं को प्रेरक वाक्य मानकर व्यवहार करने लगे तो वहाँ शास्त्रकार का कोई दोष नहीं है । जैसे पिता अपनी रक्षा के लिये अपने पुत्र को शस्त्र चलाना सिखाता है, और यदि वह पुत्र उसी शस्त्र से अपना शिर काट ले, तो उसमें माता-पिता का दोष नहीं है । अतः अन्यथा व्यवहार करने में शिक्षक का कोई दोष नहीं है ।

किञ्च सनातनधर्मस्य तु (महाभारतेशान्तिपर्वणि)

''अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानश्च सतां धर्मः सनातनः ।''

सनातन धर्म में तो यही है- कि मन कर्म और वचन से सभी प्राणियों के प्रति द्रोह का अभाव हो, महाभारत शान्तिपर्व में -दया और दान ही सत्पुरुषों का सनातन धर्म है ।

इसी प्रकार 'अहिंसा सर्वभूतेभ्यः' मा हिंस्यात् सर्वभूतानि 'पापाय परिपीडनम्' इत्यादि व्यवस्थित वाक्यों की अवहेलना करते हुये मनमानी ढंग से कोई धर्म 'खज्जे पिज्जे हि मोक्षः' 'यथेच्छं विहरेत्' अर्थात् अखाद्य भक्षण तथा यथेच्छ विहार में ही मोक्ष है ऐसे मनः कल्पित वाक्य कहकर मनुष्यों को अन्धकूप में गिरा दे, या नरकगामी बना दे तो क्या वह दानव नहीं है ?

भैरवनाथः कथम् प्रतारणम् ?

''यज्ञार्थं बलयः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभूवा । (मनुः ५-९)
'यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः ॥''

भैरवनाथ ने कहा-यह प्रतारणा कैसे है- अर्थात् यज्ञ के लिये ही बलि का विधान स्वयं ब्रह्मा जी ने किया है । इसलिये यज्ञ हेतु वध वध नहीं कहा जा सकता ।

श्री रामानन्दाचार्य ने कहा- यह कोई सुनिश्चित एवं अन्तिम निर्णय नहीं है । हिंसा का यज्ञ के निमित्त निर्देश करके प्रकारान्तर से सर्वव्यापी हिंसा का निषेध ही किया गया है । विवेक दृष्टि से आप विचार करें-

उक्तश्च तत्रैवाऽग्रे- **यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ।**
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ (मनुः ५-४६)

जो व्यक्ति किसी भी प्राणी के लिये बन्धन और वध नहीं चाहता वस्तुतः वही सबका हितैषी है और वह सुख को प्राप्त करता है । आगे और भी स्पष्ट किया गया है-

स्पष्टमप्यग्रे-"**न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान् मांसं विवर्जयेत् ।**" -इति (५-४८)

प्राणियों का वध स्वर्ग की प्राप्ति नहीं करा सकता अतः मांस भक्षण का निषेध किया गया है । यह भी कहा गया है कि केवल शस्त्र से हिंसा करने वाला व्यक्ति ही हिंसक नहीं होता बल्कि-

ये हि- '**अनुमन्ता, विशसिता, निहन्ता क्रय-विक्रयी ।**
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च स्वादक श्चेति घातकाः ॥"-(मनु. ५-५१)

अर्थात् अनुमोदन करने वाला मारने वाला खरीदने एवं बेचने वाला संस्कार करने वाला (पकाने वाला) और लाने वाला तथा खाने वाला व्यक्ति भी हिंसक कहलाता है ।

तदनन्तर भैरवनाथ ने कहा-दुर्गा सप्तशती में कहा गया है-माँ पराम्बा की पूजा पशु बलि, पुष्प अर्घ्य और गन्ध धूप दीप से करनी चाहिये । तो क्या यह व्यर्थ ही लिखा गया है ।

श्रीरामानन्दाचार्य ने कहा- शास्त्रों में अधिकारी के भेद से व्यवस्था दी गयी है । जो तामसी भक्त मांसभक्षी हैं वे मांसादि समर्पित कर अपनी मस्ती के अनुसार पूजा करने के बाद मांस खायें उसके पहले नहीं । किन्तु उनके अतिरिक्त जो सात्विक एवं राजस गुण वाले द्विजाति है उनको इस प्रकार की पूजा नहीं करनी चाहिये । वहाँ पर निषेध का विधान है, 'बलि मांसानि पूजेयं विप्रवर्ज्यामयेरिता' इस प्रकार के हिंसा को रोकने वाले बहुत से वाक्य पुराणों में प्राप्त होते हैं । हिंसा नरक में ले जाने वाली है- दुर्गति कारिणी है ।

पद्म पुराण में भी उल्लेख है- कि जो मेरी पूजा है यह कहकर पूजा के नाम पर प्राणियों की हिंसा करते हैं उनके द्वारा की गयी मेरी पूजा अमेध्य

होती है मांसादि दोषों के कारण उस पूजा से अधोगति होती है हे शिवजी ! तामसी लोग मेरी पूजा के नाम पर जीवों की हिंसा करते हैं उन लोगों का कोटिकल्प पर्यन्त नरक में वास होता है इसमें कोई संशय नहीं है अर्थात् पूजा के बहाने पशु वध कर जो लोग उसके मांस को बन्ध बान्धवों के साथ खाते हैं वे उस पशु की रोम संख्या के प्रमाण में उतने ही वर्ष असिपत्र नामक वन में रहते हैं, अर्थात् कटने की यातना रात दिन भोगते हैं । देवी भागवत में भी हिंसा रहित यज्ञ का ही 'पुरोडाश' (खीर) आदि से सम्पन्न करने का विधान है । भविष्योत्तर में- जो चन्दन अगर कपूरादि से दुर्गाजी की पूजा करेगा वह निश्चय ही दिव्य एक सौ वर्ष तक इन्द्रलोक में पूजित होगा । गन्धानुलेपन से ज्योतिष्टोम के फल की प्राप्ति होती है सप्तशती में लिखा है कि- पुष्प धूप और गन्धादि से पूजित तथा मन्त्रों से संस्तुता श्रीदुर्गाजी वित्त, पुत्र, धर्म में मति और अन्त में शुभगति प्रदान करती है । एवं महाभारत में भी जो सुन्दर हविष् है उसी से देवता प्रसन्न होते हैं ।

अतः देश काल के अनुसार प्रत्येक कार्य का विवेचन आवश्यक है । पशु हिंसापूर्वक अधर्म का आचरण उचित नहीं है न ही कल्याणकारी है । यदि हिंसा प्रिय व्यक्ति हिंसा से ही भगवती जगज्जननी की प्रसन्नता को मान्यता देते हैं तो फिर अपने पुत्र की ही बलि क्यों नहीं दे देते क्योंकि पुत्र की बलि से तो भगवती और अधिक प्रसन्न हो जायेंगी जैसे बकरी का पुत्र वैसे ही अपना पुत्र । कोई भेद नहीं । तब पकरी के बच्चे के समान अपने पुत्र की बली क्यों नहीं देते ।

भैरवनाथ ने कहा- तो सोमयाजी याज्ञिक सोमयज्ञ के अंगभूत पशु की हिंसा करते है। ऐसा क्यों ? कारण यह है कि वे जानते हैं कि सोमयज्ञ से प्राप्त होने वाले स्वर्ग, अपूर्व, सिद्धि पुण्य एवं सुख की तुलना में पशु हिंसा से होने वाला पाप अल्प ही होता है । सोमयज्ञ के पुण्य से वह पाप स्वतः नष्ट हो जायेगा, इसलिये उस हिंसा का प्रायश्चित नहीं करना पड़ता । इसी प्रकार भगवती की आराधना में भी यही नियम लागू होता है ।

''यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुरा कृतम् ।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञै-र्माष्टुमर्हति ॥''

श्रीरामानन्दाचार्य ने कहा- यह आप लोगों की बुद्धि का भ्रम है श्रीमद्भागवत में कहा गया है- जैसे कीचड़ से कीचड़ नहीं स्वच्छ नहीं किया जा सकता । सुरा से सुरा की अशुद्धि दूर नहीं की जा सकती, इसी प्रकार प्राणियों की हिंसा का पाप यज्ञफल (पुण्य) से प्रक्षालित नहीं हो सकता ।

भैरवनाथ ने पूँछा- तो फिर प्रत्येक सोमयज्ञ में सोम पशु को क्यों लाया जाता है ?

श्रीरामानन्दाचार्य ने उत्तर दिया- जहाँ यह लिखा हुआ है उसी के आगे यह भी लिखा गया है कि 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाय । इस प्रकार परस्पर विरोधी वचनों के होने पर भी न्यूनाधिक विधान के अनुरूप निर्णय लिया जाना चाहिये । जहाँ कहीं भी देश, काल एवं स्वभाव के अनुरूप उपासना प्रसंग में हिंसा वाक्य दिखाई पड़ते हैं-वहाँ विशेष विधान के अनुसार व्यवस्था का परामर्श है । वैसे तो सब जगह अहिंसा का ही आग्रह दिखाई पड़ता है । अहिंसा परमो धर्मः' अहिंसा ही परम धर्म है और हिंसा अधर्म का लक्षण है । पुराणों में वर्णन आता है-

पुराणेष्वपि- **''नैतादृशः परोधर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् ।**
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥

-(भाग० ७-१५-८)

भागवत पुराण में, अर्थात् सद्धर्म की अभिलाषा रखने वाले लोगों के लिये अहिंसा से बड़ा और कोई धर्म नहीं है । मन, वचन, कर्म से किसी प्राणी को दण्ड न देना धर्म है ।

तथाहि:- **''न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाऽद्याद् धर्मतत्ववित् ।**
मुन्यन्नैः स्यात् परा प्रीतिर्यथा, न पशुहिंसया ॥''

(भाग० ७-१५-७)

श्राद्धादि में भी मांस पिण्ड को छोड़कर ही श्राद्ध का विधान है । पितरों की तृप्ति मांस पिण्ड से नहीं होती । श्रीमद्भागवत में उल्लेख है-

श्राद्ध में मांस पिण्ड देने का निषेध है तथा धर्मज्ञ व्यक्ति को मांस का भक्षण नहीं करना चाहिये । पितरों की जितनी तृप्ति मुनि अन्न (तिल, जौ, चावल) से होती है उतनी पशु हिंसा से नहीं ।

अत: जहाँ मांस पिण्ड का दान होता है वह उस देश अर्थात् स्थान विशेष के कारण है क्योंकि वहाँ अन्न उपलब्ध नहीं है । जो मत्स्योपजीवी (मछलियों से पेट भरने वाले) बनचर आदि हैं अथवा ऐसे स्थान में रहते हैं जहाँ अन्न नहीं उत्पन्न होता उनके लिये श्राद्ध में मांस पिण्ड का विधान है ।

किन्तु यह व्यवस्था सभी स्थानों के लिये नहीं है । इस भूमण्डल में ऐसे भी स्थान हैं जहाँ मत्स्य एवं मांस को छोड़कर अन्न का दर्शन भी दुर्लभ है, उनके लिये ही मांस पिण्ड की बात कही गयी है । चूँकि वेद सभी देशवासियों श्रद्धालुओं एवं कर्मठ श्राद्धकर्त्ताओं के लिये हैं । अन्न विहीन क्षेत्र में भी श्राद्ध किये जाते हैं अत: उन देशवासियों के हित के लिये ताकि श्राद्ध कर्म का लोप न हो यह मानकर देश काल परिस्थिति के अनुसार की जाने वाली यह व्यवस्था है । सार्वकालिक एवं सर्वदेशीय नहीं है । भारतवासियों के लिये तो ऐसी व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि भारत एक समृद्ध तथा अन्न बहुल देश है । भारत में सदैव यही हविष्यान्न के द्वारा ही श्राद्ध का विधान रहा है । यदन्नं यस्य भवति, तदन्नास्तस्य देवता: अर्थात् जो अन्न जहाँ के देशवासियों का खाद्य पदार्थ है उसके देवताओं का भी वही खाद्य है तदतिरिक्त नहीं ।

वेद सभी देशवासियों द्वारा मान्य हैं अत: सभी देशों स्थानों के अभिप्राय से सब प्रकार की सबके हित की सार्वजनिक व्यवस्था वेदों में विद्यमान है । वेद ही सभी धर्मों एवं समस्त ज्ञान विज्ञान के भण्डार हैं । अत: भारतवासी धर्मप्राण श्रद्धालुओं को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये ।

''यस्तु प्राणिवधं कृत्वा पितृन् मांसेन तर्पयेत् ।
स विद्वां-श्चन्दनं दग्ध्वा कुर्यादङ्गाऽवलेपनम् ॥ इति ।''

अत: यह निश्चित हुआ कि भगवती पराम्बिका हिंसा से प्रसन्न नहीं हुआ करतीं । वृद्ध पाराशर स्मृति में आया है–

जो व्यक्ति प्राणियों का वध करके मांस से पितृ श्राद्ध करता है वह विद्वान मानों चन्दन को जलाकर अपने अंगों को लेप कर रहा है । अधिक क्या–मांस भक्षण की प्रवृत्ति दुराग्रहपूर्ण एवं अत्यन्त तुच्छ है, सभी प्रकार से मानवता के विरूद्ध हैं । सर्वत्र अमान्य है एवं त्याज्य है । कोई देवी देवता इसे स्वीकार नहीं करते ।

अत: मैं सभी समुपस्थित धर्म प्राण धार्मिक जनों से निवेदन करता हूँ कि वे निरपराध, न बोलने वाले भोले भाले पशु रूप प्राणियों का वध करके सकल कल्याणकारिणी जगज्जननी के बलिदान के व्याज से अधर्म एवं पापाचार न करें । कोई भी माता अपने पुत्रों के वध को देखकर प्रसन्न नहीं होती । जैसे आपको अपने पुत्र प्रिय हैं वैसे ही माँ भगवती को ये भी प्रिय हैं । अत: बलि हेतु लाये हुये इन पशुओं को छोड़ दो ।

यदि आप लोग हृदय से यह चाहते हैं कि भगवती की हम उपासना करें और उनकी प्रसन्नता हमें प्राप्त हो, तो इन निरपराध पशुओं की हिंसा से उत्पन्न होने वाले अपने सर्वनाश को बचायें, इनकी सुरक्षा करें, इन्हें बन्धन मुक्त कर दें जिससे इनके हृदयाशीर्वाद से अभिनन्दित होकर सुखपूर्वक रहते हुए अपने पुत्रों के कल्याण की कामना करते हुए मानवता के मुख पर लगे हुए हिंसाजन्य कलंक का प्रक्षालन करके मानवों के मुख को समुज्ज्वल करें निरपराध पशु हिंसा पराध से समत्पन्न सर्वनाश से अपनी आत्मा को सुरक्षित करें ।

श्री रामानन्दाचार्य जी कीदिव्य ज्ञान सुधा से सिंचित पवित्र वाणी को सुनकर इस दुष्कर्म से सभी लोग स्वत: विरत हो गये तथा आचार्य चरणों की शरण ग्रहण कर उन्होंने प्रतिज्ञा की, कि अब आज से हम कभी भी इस प्रकार का दुष्कर्म नहीं करेंगे । आज तक अज्ञान वश जो भी किया उसे आप क्षमा कर दें । ऐसा कहकर उन्होंने पशुओं को बन्धन मुक्त कर दिया ।

इस प्रकार शीघ्र ही सभी अपने भक्त जनोंके मनोभावों को बदला हुआ देखकर वह भैरवनाथ सभी के समक्ष अपना ऐसा अपमान देखकर क्रोध से आग बबूला हो उठा । किं कर्त्तव्य विमूढ़ होता हुआ अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिये कुछ बड़बड़ाता हुआ हवन कुण्ड के पास गया और हवन कुण्ड से जलते हुये अंगारोंको निकालकर श्रीरामानन्दाचार्य की ओर फेंकना प्रारम्भ कर दिया । किन्तु चाण्डाल एवं कुत्ते में समदृष्टि रखने वाले वैरविहीन हृदय वाले, प्रशान्त चित्त श्रीरामानन्दाचार्य के ऊपर वे अंगार गिरकर शीतल होते हुये कमल की पंखुडियों के समान सुगन्धित एवं सुशोभित होने लगे ।

इस प्रयोग के असफल हो जाने पर दुर्मति वह भैरवनाथ तांत्रिक अभिचार का प्रयोग करने के लिये उद्यत हो गया । वह स्वयं धूलि धूसरित

होकर अपने ही आँखों में धूलि डालने लगा । पहले उसने धूलिकी वृष्टि प्रारम्भ की इसके बाद हड्डियों की वर्षा करने लगा- किन्तु 'महत्सु कृतोपचार: स्वात्मन्येव प्रतिफलति' कहा गया है कि महापुरुषों के ऊपर किये हुये दुराचार स्वयं अपने ही ऊपर आते हैं । इस नियम के अनुसार वह हड्डियों की वर्षा उसी के ऊपर होने लगी और वह भैरवनाथ स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त हो गया । अस्थियों का लेशमात्र भी स्पर्श स्वामी रामानन्दाचार्य जी शरीर में नहीं हो सका । इस प्रकार के अप्रतिम एवं अद्‍भुत चमत्कार से सभी दर्शक आश्चर्य चकित हो गये । श्रीरामानन्दाचार्य जी के प्रति विशेष श्रद्धा रखने वाले भक्त अत्यन्त प्रभावित हुये और स्वामी जी का आतिथ्य सत्कार किया ।

इस प्रकार सभी मूक प्राणियों का आशीष ग्रहण कर अगणित प्राणियों को जीवन दान देकर एक रात्रि वहाँ निवास करके ज्ञान पिपासु भक्तों को उपदेश देकर, उस आयोजन में दूर-दूर से आये हुये भक्तों को अपनी वाणी रूपी सुधा से सिंचित कर सत्कर्म तथा सदाचार की पद्धति का ज्ञान देकर कृतार्थ करते हुये श्रीरामानन्दाचार्य जी श्री पीपाजी के वरदहस्त की छाया में पल्लवित तथा आने वाले अपूर्व महापुरुष की चरण रज से पवित्र गांगरौन नाम की राजधानी की ओर अपनी शिष्य मण्डली, विद्वद् मण्डली तथा भक्त मण्डली के साथ धीरे-धीरे चल पड़े ।

वहाँ आचार्य चरण के पधारने का शुभ समाचार सुनकर हर्षातिरेक से प्रफुल्लित महाराज श्री पीपा जी ने सम्पूर्ण नगर में राजाज्ञा की घोषणा करा दी- श्री गुरुचरण नगर में पधार रहे हैं अत: पूरे नगर को सजाया जाय । जैसे विवाहोत्सव में साज सज्जां की जाती है उसी तरह सभी नागरिक अपने-अपने भवनों को अलंकृत करें । आज्ञानुसार प्रतिगृह एवं प्रतिद्वार दोनों ओर से कदली स्तम्भ मण्डित किये गये । कलशों, नवीन आम्र-पल्लवों, पुष्पगुच्छों तथा चारों ओर बनाये गये अशोक दल के सुन्दर बन्दनवारों से, फहराती हुई पताकाओं से नगर को सुसज्जित किया गया । स्थान-स्थान पर पट द्वार बनाये गये जिनमें वन्दनवार एवं सुमन गुच्छ सुशोभित थे । वह राजप्रसाद (राजभवन) इन्द्र भवन के समान सुशोभित हो रहा था । विविध मणियों मुक्तामालाओं से तथा सोने चाँदी के एक के ऊपर एक रखे हुये पाँच-पाँच कलशों से तथा चित्रविचित्र अनेक नवीन उपकरणों से सम्पन्न वह

नगर ब्रह्मा की सृष्टि रचना में अपूर्व प्रतीत हो रहा था । इस प्रकार की साज सज्जा के पश्चात् श्रीगुरु के स्वागत हेतु विशिष्ट नागरिकों नगर महाजनों, मन्त्रियों, विद्वानों, वेदाचार्यों पुरोहितों तथा समस्त राजकीय वैभव के साथ, अनेक मांगलिक वाद्यों के साथ श्री पीपाजी महाराज आगे बढ़ रहे थे । सुवासिनी महिलायें मंगल गीत गा रही थीं चारों ओर से जय जय की ध्वनि हो रही थी । गुरु जी के सम्मुख पहुँचकर श्री पीपा जी ने चरणों में गिरकर दण्डवत् प्रणाम किया समुचित सामयिक शिष्टाचार के अनुरूप गुरु शिष्य के बीच पारस्परिक आचार एवं वार्तालाप हुआ । आशीष प्राप्त करने के बाद श्री पीपाजी ने गुरुजी से नगर में प्रवेश कर राजभवन को अलंकृत करने की प्रार्थना की । प्रार्थना पर श्री गुरु चरणों ने राजप्रासाद को अपनी चरण रज से पवित्र करते हुये महाराज की मनोकामना को पूर्ण किया ।

इकतीसवाँ परिच्छेद

गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।
पापं तापं तथा दैन्यं, हरति श्री पतौ रतिः ।।[1]
गंगा पापहि चन्दा तापहि देन्ब देवतरुलेय ।
तीनो को हरि भक्ति हरि परम शान्ती कोदेय ।।

नियमानुसार ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर श्रीरामचन्द्र जी के चरणों का स्मरण कर प्रातःकालीन क्रियायें सम्पादित करने के पश्चात् श्रीगुरुचरणों ने सन्ध्यावन्दन, भगवच्चरण पूजन, मन्त्रराज जप एवं स्तोत्र पाठादि नित्य नैमित्तिक कर्मों को पूर्ण किया । तदनन्तरं राज्य की जनता की प्रसन्नता एवं भक्ति ज्ञान के संवर्द्धन हेतु सभाभवन में उपस्थित होकर प्रवचन पीठ को अलंकृत करते हुये प्रसन्नतापूर्वक ज्ञान विज्ञान की किरणों से युक्त अपने प्रवचन रूपी प्रकाश को भक्ति मार्ग के प्रकाशित करने के लिये विस्तारित किया ।

एक ओर भक्त मण्डली अन्तःपुर की महिलायें और नगर की सभी महिलायें अपने-अपने परिवारीजनों के साथ विराजमान थीं । सामने विद्वद् जनों का मण्डल तथा बगल में राजगण सुशोभित हो रहे थे । सबसे आगे विराजमान भक्त शिरोमणि श्रीपीपा जी महाराज ने श्रद्धा नम्रता एवं उल्लासपूर्वक गन्ध पुष्प एवं अक्षतों से गुरुचरणों का पूजन करने के पश्चात् निवेदन किया- प्रभुचरण ! सांसारिक वासनाओं सेकलुषित अन्तःकरण वाले मैं और मेरा अर्थात् ममता एवं अहन्ता से ग्रस्त त्रस्त, मोह पाश में बद्ध तथा भगवद् भावना से युक्त प्रबुद्ध जनों के शीघ्र ही समुद्धार का कौन सा मार्ग सरल सुगम एवं सुलभ है । जो समस्त प्राणिमात्र के लिये कल्याण कारी, निखिल सन्तापहारी एवं आनन्ददायी हो भगवत् प्राप्ति हेतु मानव जिस मार्ग

---

१. जिस प्रकार गंगाजी पाप का, चन्द्रमाँ ताप का, और कल्पवृक्ष दैन्य का हरण करता है उसी प्रकार श्रीसीतापति भगवान् श्रीराम में होने वाली रति पाप, ताप और दैन्य को हरण करती है ।

को अपना सकें। जिससे भगवद् भक्ति पुष्ट हो, मन वाणी एवं कर्म के पाप दूर हों, सद्भाव जागृत हों, आत्म सन्तोष प्राप्त हो। वेद एवं वेदान्त की विधियों में रूचि हो और अक्षय आनन्द का कोष प्राप्त हो सके।

श्रीरामानन्दाचार्य जी ने श्री पीपा जी महाराज को सम्बोधित करते हुये वहाँ स्थित सभी ज्ञान पिपासु जनों को उपदेश करने लगे- यह तो आपको ज्ञात ही है कि संसार में सर्वप्रथम तो मानव शरीर मिलना कठिन है, फिर भगवद् भक्ति उससे भी अधिक कठिन है पुनः वैष्णव हो जाना तो नितान्त दुर्लभ और कठिन है।

उक्तञ्च **''नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारम्।**

मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।

-(भागवते ११, २०, १७)

श्रीमद्भागवत में कहा गया है- यह मनुष्य शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है, और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। संसार सागर से पार जाने के लिये यह शरीर एक सुदृढ़ नौका है। शरण ग्रहण मात्र से ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं, और स्मरण मात्र से ही मैं अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होने पर भी जो इस शरीर के द्वारा संसार सागर से पार नहीं जाता, वह अपने हाथों अपनी आत्मा का हनन (अधः पतन) कर रहा है। क्योंकि मानव देह की प्राप्ति के लिये देवता भी प्रयत्नशील रहते हैं- मानव देह देवो द्वारा समर्चित है।

भागवते ११.७.२१) **पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोग विशारदाः।**

अविस्तरां प्रपश्यन्ति, सर्वशक्त्युपबृंहितम्॥

अर्थात् सांख्य योग विशारद धीर पुरुष इस मनुष्य योनि में इन्द्रिय शक्ति, मनः शक्ति आदि के आश्रयभूत मुझ आत्म तत्त्व का पूर्णतः प्रकट रूप से साक्षात्कार कर लेते हैं।

''सञ्चितं सुमहत्पुण्यमक्षय्यममलं शुभम्।

कदा वयं हि लप्स्यामो जन्म भारत भूतले॥

-(नारदपुराणे वचनम्)

"सुदुर्लभं भारतवर्ष जन्म, मनुष्यजातौ महतां कुलेषु ।"
(महाभारतेऽपि युधिष्ठिरं प्रति)

देहधारी जीव मानव शरीर प्राप्त करके सांख्य और योग के द्वारा सर्वशक्तिमान् ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं । नारद पुराण में-हमारे अनेक जन्मों के पुण्य सञ्चित हो गये हैं हे भगवन् ! हम लोग कब भारतभूमि में शुभ जन्म को प्राप्त करेंगे ? महाभारत में भी युधिष्ठिर के प्रति वैसे तो भारतवर्ष में जन्म ही बड़ा दुर्लभ है फिर महापुरुषों के कुल में जन्म होना अति दुर्लभ है । अतः अत्यन्त दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त करके जो भवसागर को न पारकर सका वह आत्मघाती है ।

(किञ्च तत्रैव)

"लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।"
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्युयावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

श्रीमद्भागवत में कहा गया है- यद्यपि यह मनुष्य शरीर अनित्य है क्योंकि मृत्यु इसके पीछे लगी हुई है । परन्तु इससे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है इसलिये अनेक जन्मों के बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मानव शरीर पाकर बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह शीघ्रातिशीघ्र मृत्यु के पहले ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय कर ले । जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही है । जो व्यक्ति मानव शरीर पाकर भी भक्ति नहीं कर पाता वह नरक गामी होता है । अतः प्रश्न उठता है कि नरक में जाने से बचाने वाला कल्याणकारी मार्ग कौन सा है? इसका उत्तर है-भगवान की भक्ति ही परम श्रेयस्कर मार्ग है ।

तल्लक्षणञ्च:-

"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ।

भक्ति का लक्षण यही है- भगवान के माहात्म्य का सुदृढ़ ज्ञान हो जाने पर जब उनसे सर्वाधिक स्नेह हो जाता है उसी को भक्ति कहा गया है । उस भक्ति से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ।

प्रायः मनुष्यों का स्नेह गृह, धन, पुत्र पत्नी एवं अपने पर हुआ करता है । इनमें से जिनमें उसका स्वाभाविक स्नेह होता है, उन सभी से

अधिक सुदृढ़ प्रगाढ़ प्रेम का बन्धन या स्नेह ही भक्ति कहलाता है । भगवान् में ऐसी सुदृढ़ प्रेमा भक्ति जब होती है तभी जीव का कल्याण होता है ।

(स्कं० २-२-३३) **''न ह्यन्योऽस्ति शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।**
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।''

किञ्च **''सर्वोत्कृष्टसुखप्राप्तिं सर्वदुःख परिक्षयम् ।**
यदिच्छसि तदैकं त्वं समाराधय माधवम् ॥''

तथैव- **''यथा समस्त लोकानां जीवनं सलिलं स्मृतम् ।**
तथा समस्त सिद्धीनां जीवनं भक्ति रुच्यते ॥''

कहा भी है कि भव से मुक्ति के लिए ही भक्ति प्रसिद्ध है स्कन्दपुराण में कहा गया है कि भगवान् वासुदेव की भक्ति को छोड़कर संसार में भटकने वाले जीवों के लिए दूसरा कोई सुखद मार्ग नहीं है । और भी-यदि सभी दु:खों का नाश और सर्वोत्कृष्ट सुख चाहते हो तो तुम भगवान् माधव की आराधना करो । और भी- जैसे समस्त लोगों का जीवन जल है उसी प्रकार समस्त सिद्धियों का जीवन भगवान् की भक्ति है ।

जैसे सभी प्राणियों का जीवन जल माना जाता है ठीक इसी प्रकार सभी सिद्धियों का मूल भक्ति है । प्रिय बन्धुओं-जैसे राम इन दो अक्षरों में अखिल ब्रह्माण्ड को धारण करने की अमोघ शक्ति विद्यमान है इसी प्रकार भक्ति के इन दो अक्षरों से तीनों लोकों में स्थित समस्त पदार्थ हस्तगत किये और कराये जा सकते हैं ।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैं र्गुणै; तत्र समासते सुराः ।

नारदपञ्चरात्रेऽपि- **''हरिभक्तेर्महादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।**
भुक्तयश्चाऽद्भुताः: सर्वा सेविकावदनुद्भुता ॥''

भगवतोक्तम्- **''सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।**
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ।

(तत्रैव गीताः १८ /५५) **''भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः ।''**
''ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥''

किञ्चः- **''भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः ।''**

श्रीमद् भागवत में कहा गया है जिस पुरुष की भगवान् में निष्काम भक्ति है उसके हृदय में समस्त देवता धर्मज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणों के सहित सदा निवास करते हैं ।

नारद पञ्चरात्र में भी- सभी मुक्त्यादि सिद्धि और सभी अद्भुत भुक्तियां ये सब महादेवी भक्ति की सेविका हैं ।

भगवान् ने कहा है- जो भक्त स्वर्ग, अपवर्गादि धाम और किसी भी प्रकार की जो कामना करता है वह मेरी भक्ति से सब कुछ सहज में प्राप्त कर लेता है । मैं जो हूँ जैसा हूँ और जितना हूँ इसको भक्ति के द्वारा मेरा भक्त तत्वत: जान लेता है तत्पश्चाद् मुझको तत्वत: जानकर तत्काल ही मेरे में प्रवेश कर जाता है । और भी- भगवान् कहते हैं कि एकमात्र भक्ति से ही मैं ग्रहण करने योग्य हूँ ।

श्रीमद्भागवते (स्कं. ११अ. १४श्लो. २२)

''धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसाऽन्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ।''

अर्थात् धर्म, सत्य, दया, विद्या एवं तपस्या से युक्त होते हुये भी जो मेरी भक्ति से विहीन है, वह सद्गति को प्राप्त नहीं होता ।

क्योंकि धर्म त्यागपूर्वक भी भगवत् भजन सम्भव है । जो सभी धर्मों का परित्याग करके मेरा भजन करता है वह श्रेष्ठतम है । भक्ति प्राप्त व्यक्ति की गति का भी वर्णन किया गया है-क्योंकि उत्तम लोक की प्राप्ति के पश्चात् पुन: परावर्तन इसमें नहीं होता । नित्य साकेत गोलोक परमेष्ठि मण्डल स्वयम्भू मण्डल तक भगवद् लोकों की प्राप्ति भक्ति से हो जाती है । भगवद्धाम की प्राप्ति भक्ति से ही सम्भव है । जहाँ पहुँचकर फिर मृत्युलोक में जन्मादि ग्रहण करने के लिये लौटना नहीं पड़ता, वहीं प्रभु का परम धाम है । अत: भगवत् प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन भक्ति ही है । क्योंकि भक्ति का स्वरूप भी शान्तिमय एवं परमानन्दमय है और सभी के लिये सुलभतर है जैसे अन्य कष्ट साध्य चान्द्रायण व्रत या योगसाधनादि है वैसा कष्ट साध्य भक्ति मार्ग नहीं है और फल में उन सबसे अधिक है । भक्ति योग में उपरोक्त साधनों जैसा परिश्रम नहीं है ना ही दूसरे की आवश्यकता, भक्ति में असीम सुख ही है । जैसे गीता में भगवान् ने कहा कि-

(गीताः १२/८) **''मय्येव मन आधत्स्व बुद्धिं निवेशय।**
निवसिष्यसि मय्येव, अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥''

अर्जुन ! तू मेरे में मन को लगा और मेरे में ही बुद्धि को लगा, इसके उपरान्त तू मेरे में ही निवास करेगा अर्थात् मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

इस पाञ्च भौतिक शरीर में मन और बुद्धि का व्यापार क्षण भर के लिये भी कभी रूकता नहीं, चलता ही रहता है। क्योंकि 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अब मनुष्य को यह देखना चाहिये कि हमारी प्रवृत्ति प्रतिकूल दिशा में है तो उसे अनुकूल बनाने के लिये अपने क्रियाकलापों में परिवर्तन करना चाहिये। जैसे नदी की धार में पड़ी हुई नौका जब विपरीत दिशा की ओर बढ़ने लगती है तब उसको अनुकूल मार्ग में लाने के लिये चतुर नाविक सावधानीपूर्वक उसे रोककर सन्मार्ग में ले आता है। इसी प्रकार भक्त भी मन और बुद्धि के विपरीत व्यापार को रोककर अनुकूल एवं कल्याणकारी मार्ग की ओर ले आता है। तथापि यह मन अतीव प्रबल है-''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः'' मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का हेतु है। यह मन जब विषयासक्त होता है तब मनुष्य का आचरण विपरीत दिशा में हुआ करता है और कर्म बन्धन में पड़कर मनुष्य दुख भोगता है-इसके विपरीत जब विषयों की आसक्ति से मन रहित हो जाता है तब मनुष्य मुक्ति रूपी आनन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और मुक्त हो जाता है।

मन की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह इन्द्रियों के साथ मिलकर स्वच्छन्द क्रियाकलाप में रत रहता है, अपने को शरण देने वाली आत्मा से वह अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। जैसे बालक अपने अभिलषित मिट्टी के खिलौनों को प्राप्त करने के लिये जितना उत्सुक रहता है, उतना अपने शरीर को पुष्ट करने वाले हितकारी पदार्थों के प्रति नहीं। अपने मन को जो जो अच्छा लगता है व्यक्ति उसी उसी को स्वीकार करता है। अतः मन की इन्द्रियों के साथ ही रमता है क्योंकि वह इन्द्रियों का स्वामी है इन्द्रियाँ सदैव पराङ्मुखी ही होती है। अतः इन्द्रियों के साहचर्य के कारण मन की भी निम्नगा (नीचे की ओर जाने वाली) प्रवृत्ति हुआ करती है। और जब नीचे की ओर जाने वाला मन बुद्धि को भी दूषित कर देता है। और जब

बुद्धि दूषित हो जाती है तो वह भी वैसा ही आचरण करने लगती है जैसा मन चाहता है, या करता है । विवेकशून्य और हित तथा अहित के चिन्तन से विमुख वह बुद्धि अपने मार्ग से विचलित हो जाती है । विचलित होने से नष्ट प्राय: बुद्धि अपने आधार शरीर को अर्थात् उस मनुष्य को भी पतित बना देती है । अत: मन की वृत्ति का निरोध जिस प्रकार हो सके वैसा ही प्रयास रात दिन हमें करना चाहिये । वायु की प्रवृत्ति के समान मन की प्रवृत्ति को रोकना बड़ा ही कठिन कार्य है- इसीलिये गीता में कहा गया है- 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' यह मन अभ्यास एवं वैराग्य से ही वश में किया जा सकता है । इसके प्रकार मन को बस में करना आवश्यक है- शास्त्रों में वर्णन प्राप्त होता है-

''मनो यस्य वशे तस्य भवेत् सर्वं जगद्वशे ।
मनसस्तु वशे योऽस्ति स सर्वजगतो वशे ॥''

किञ्च- **''निवृत्तिर्विषयाऽऽसक्तेः लोलुपत्वविघातनम् ।**
शातनं स्वेन्द्रियेच्छानां स्तम्भनं हस्तवाक्-पदाम् ॥

सारांश:- **''श्रोत्रवाक्चक्षुषां रोधो निरोधो हस्तपादयोः ।**
सिद्धश्चेन्मनसःसिद्धं वशीकरणमुत्तमम् ॥'

मन जिसके वश में हो जाय उस व्यक्ति के वश में पूरा संसार हो जाता है, और इसके विपरीत जो व्यक्ति स्वयं मन के वश में है फिर वह पूरे संसार के वश में है । इसी प्रकार इन्द्रियाँ जिसके वश में हैं मन स्वयं उसके वश में रहता है । उसमें भी वाणी, हाथ और पैर यदि वश में हो जाय तो मन भी वश में हो जायेगा । यह महात्माओं द्वारा अनुभव सिद्ध सिद्धान्त है । और विषयासक्ति से निवृत्ति का उपाय है लोलुपता का विघात, इन्द्रियों के स्वेच्छाचारिता का विनाश और हाथ, पैर और वाणी का स्तम्भन । सारांश यह है कि कान, वाणी, नेत्र हस्त, एवं पैर यदि इनका निरोध कर लिया जाय तो मन अपने आप वश में हो जायेगा ।

हिन्दी के कवि रहीमदास व कबीरदास ने भी लिखा है- यदि मन विषयों की ओर जा रहा है तो जाने दो अपने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया जाय तो भी कोई हानि नहीं है जैसे यदि शरीर की छाया पर पानी पड़े तो भी शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । अन्यथा- बलवानिन्द्रियग्रामो

(गीता: १२/८) **''मय्येव मन आधत्स्व बुद्धिं निवेशय।**
निवसिष्यसि मय्येव, अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥''

अर्जुन ! तू मेरे में मन को लगा और मेरे में ही बुद्धि को लगा, इसके उपरान्त तू मेरे में ही निवास करेगा अर्थात् मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

इस पाञ्च भौतिक शरीर में मन और बुद्धि का व्यापार क्षण भर के लिये भी कभी रूकता नहीं, चलता ही रहता है। क्योंकि 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अब मनुष्य को यह देखना चाहिये कि हमारी प्रवृत्ति प्रतिकूल दिशा में है तो उसे अनुकूल बनाने के लिये अपने क्रियाकलापों में परिवर्तन करना चाहिये। जैसे नदी की धार में पड़ी हुई नौका जब विपरीत दिशा की ओर बढ़ने लगती है तब उसको अनुकूल मार्ग में लाने के लिये चतुर नाविक सावधानीपूर्वक उसे रोककर सन्मार्ग में ले आता है। इसी प्रकार भक्त भी मन और बुद्धि के विपरीत व्यापार को रोककर अनुकूल एवं कल्याणकारी मार्ग की ओर ले आता है। तथापि यह मन अतीव प्रबल है-''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः'' मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का हेतु है। यह मन जब विषयासक्त होता है तब मनुष्य का आचरण विपरीत दिशा में हुआ करता है और कर्म बन्धन में पड़कर मनुष्य दुख भोगता है-इसके विपरीत जब विषयों की आसक्ति से मन रहित हो जाता है तब मनुष्य मुक्ति रूपी आनन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और मुक्त हो जाता है।

मन की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह इन्द्रियों के साथ मिलकर स्वच्छन्द क्रियाकलाप में रत रहता है, अपने को शरण देने वाली आत्मा से वह अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। जैसे बालक अपने अभिलषित मिट्टी के खिलौनों को प्राप्त करने के लिये जितना उत्सुक रहता है, उतना अपने शरीर को पुष्ट करने वाले हितकारी पदार्थों के प्रति नहीं। अपने मन को जो जो अच्छा लगता है व्यक्ति उसी उसी को स्वीकार करता है। अतः मन की इन्द्रियों के साथ ही रमता है क्योंकि वह इन्द्रियों का स्वामी है इन्द्रियाँ सदैव पराङ्मुखी ही होती है। अतः इन्द्रियों के साहचर्य के कारण मन की भी निम्नगा (नीचे की ओर जाने वाली) प्रवृत्ति हुआ करती है। और जब नीचे की ओर जाने वाला मन बुद्धि को भी दूषित कर देता है। और जब

बुद्धि दूषित हो जाती है तो वह भी वैसा ही आचरण करने लगती है जैसा मन चाहता है, या करता है । विवेकशून्य और हित तथा अहित के चिन्तन से विमुख वह बुद्धि अपने मार्ग से विचलित हो जाती है । विचलित होने से नष्ट प्रायः बुद्धि अपने आधार शरीर को अर्थात् उस मनुष्य को भी पतित बना देती है । अतः मन की वृत्ति का निरोध जिस प्रकार हो सके वैसा ही प्रयास रात दिन हमें करना चाहिये । वायु की प्रवृत्ति के समान मन की प्रवृत्ति को रोकना बड़ा ही कठिन कार्य है- इसीलिये गीता में कहा गया है- 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' यह मन अभ्यास एवं वैराग्य से ही वश में किया जा सकता है । इसके प्रकार मन को बस में करना आवश्यक है- शास्त्रों में वर्णन प्राप्त होता है-

''मनो यस्य वशे तस्य भवेत् सर्वं जगद्वशे ।
मनसस्तु वशे योऽस्ति स सर्वजगतो वशे ॥''

किञ्च- **''निवृत्तिर्विषयाऽऽसक्तेः लोलुपत्वविघातनम् ।**
शातनं स्वेन्द्रियेच्छानां स्तम्भनं हस्तवाक्-पदाम् ॥

सारांशः- **''श्रोत्रवाक्चक्षुषां रोधो निरोधो हस्तपादयोः ।**
सिद्धश्चेन्मनसःसिद्धं वशीकरणमुत्तमम् ॥'

मन जिसके वश में हो जाय उस व्यक्ति के वश में पूरा संसार हो जाता है, और इसके विपरीत जो व्यक्ति स्वयं मन के वश में है फिर वह पूरे संसार के वश में है । इसी प्रकार इन्द्रियाँ जिसके वश में हैं मन स्वयं उसके वश में रहता है । उसमें भी वाणी, हाथ और पैर यदि वश में हो जाय तो मन भी वश में हो जायेगा । यह महात्माओं द्वारा अनुभव सिद्ध सिद्धान्त है । और विषयासक्ति से निवृत्ति का उपाय है लोलुपता का विघात, इन्द्रियों के स्वेच्छाचारिता का विनाश और हाथ, पैर और वाणी का स्तम्भन । सारांश यह है कि कान, वाणी, नेत्र हस्त, एवं पैर यदि इनका निरोध कर लिया जाय तो मन अपने आप वश में हो जायेगा ।

हिन्दी के कवि रहीमदास व कबीरदास ने भी लिखा है- यदि मन विषयों की ओर जा रहा है तो जाने दो अपने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया जाय तो भी कोई हानि नहीं है जैसे यदि शरीर की छाया पर पानी पड़े तो भी शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । अन्यथा- बलवानिन्द्रियग्रामो

विद्वांसमयकर्षति' बलवान इन्द्रियों का समूह विद्वानो को भी अपनी ओर खींच ले जाता है। दसों इन्द्रियों को वश में करने की आवश्यकता नहीं है केवल पाँच इन्द्रियों को ही वश में करना परमावश्यक है।

तत्राहि- **''हस्तौ पादौ श्रोत्रयुग्मं नराणां,**
चक्षुर्द्वन्द्वं पञ्चमी वाङ् मतेयम्।
एषां वश्ये, नो मनः कर्तुमीष्टे,
प्रत्यायास्यत्याशु यातं विरक्तम्॥''

इन्द्रियाणां वशीकरणोपायस्तु- **''न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवकाः।**
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥''

दो हाथ, दो पैर, दो कान, दोनों नेत्र एवं वाक इन पाँचों को वश में कर लेने पर मन स्वतः वश में हो जाता है विरक्त मन कहीं जायेगा भी तो शीघ्र ही लौट आयेगा। इन्द्रियों को वश में करने का उपाय है ज्ञान-विवेकपूर्वक विषयों का सेवन।

विषयों में आसक्त इन्द्रियों का नियन्त्रण विषयों के परित्याग से उतनी आसानी से नहीं हो सकता जितना कि विषयों में दोष देखते हुये उनसे विमुख होना सुगम उपाय है। इन्द्रियाँ नियन्त्रित होते ही मन अपने आप गतिहीन जाता है फिर बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है वह आत्मा की ओर प्रवृत्त होने लगती है। मन, इन्द्रियाँ एवं बुद्धि तीनों के शुद्धीकरण से भगवत् धर्म में जीवात्मा की प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है।

अतएवोक्तम्- **''चक्षुर्वाक् पाणि पादानां निरोधः परमोततः।**

अन्यथा तु- **''असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।''**

-अतस्तन्निरोधायैवोक्तं-

भगवता तु- **''अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।''**

-(गीता ६-३५)

महर्षिणा पतञ्जलिनाऽपि- **''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।''**

-(योगसूत्र १२)

तदग्रे च- **''सतु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कार सेवितो दृढभूमिः''**

-सश्रद्धप्रयत्न-

खींच
केवल
: ।
''
श में
ो तो
ान-
तनी
नसे
आप
वृत्त
में
ः-

सापेक्षश्च सः । **तेन च-'यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत् ।''**-ततश्च-क्रमेणेन्द्रियाणां स्थैर्यम्-**''वायु वाक् काय दृष्टीनां स्थिता च तथा तथा ।''** -इति ।

इसीलिए कहा गया है कि नेत्र, वाणी, हाथ और पैरों का निरोध ही सर्वश्रेष्ठ एवं अनर्थोपशमन है यदि साक्षात् मन कहीं जाता है तो जाने दो अपनी आत्मा के शान्ति लाभ के लिए तीन का निग्रह ही उचित बताया गया है । यदि पाँचों का निग्रह हो जाय तो पंगु मन कुछ नहीं कर सकता तत्पश्चात् मन और इन्द्रियों से अक्षुब्ध और शुद्ध बुद्धि स्वयं आत्मा के साथ अनुरक्त होकर भागवती हो जाती है । नहीं तो, भगवान् कहते हैं हे अर्जुन ! मन का चाञ्चल्य निश्चय ही कठिनता से निग्रह करने योग्य है इसलिए उसके निरोध के लिए ही कहा है भगवान् ने हे कुन्ती नन्दन ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में किया जाता है । महर्षि पतंजलि ने भी कहा है अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही चित्तवृत्तियों का निरोध होता है आगे कहते हैं कि आदरपूर्वक दीर्घकाल तक एवं निरन्तर अभ्यास करने से मन में स्थिरता आती है । श्रद्धापूर्वक प्रयत्न की अपेक्षा होती है जैसे-जैसे सद् अभ्यास से मन स्थिर होता है वैसे-वैसे ही प्राणवायु, वाणी, काम और नेत्रादि की स्थिरता होती है ।

किञ्च- **''बिन्दूनाञ्चयनेनैव पूर्यते हि जलाशयः ।**
शब्दानां चयनाद्विद्वान् कृषकः कणसञ्चयात् ॥''
एवमेव शनैर्नित्यमभ्यासाऽभ्यसनेन हि ।
स्थिरतामेति मनसो वृत्तिश्चेन्द्रियनिग्रहः ।''

अर्थात् एक-एक बिन्दु के संचय से जलाशय जल से पूर्ण हो जाता है । एक एक शब्द के संग्रह से व्यक्ति विद्वान बन जाता है और किसान एक-एक कण (अन्न) का संचय कर धनवान बन जाता है । इसी प्रकार धीरे-धीरे नित्य अभ्यास का नियम बना लेने से मन की वृत्ति स्थिर हो जाती है । इस तरह सम्पूर्ण इन्द्रियों एवं मन के साथ बुद्धि का पूर्णरूपेण सामंजस्य होकर भगवान् में जिसका योग हो जाता है, वही भगवद् भक्ति का उत्तम अधिकारी है ।

यद्यपि कपिल मुनि ने भक्ति के अनेक मार्गों का निर्देश किया है, तथापि सामान्यरूप से भक्ति दो प्रकार की है- १. सगुण, २. निर्गुण,

१. जिसमें स्वार्थपरक गुणों का संसर्ग होता है अर्थात् यश की कामना (लोकैषणा) वित्तैषणा (धन की कामना) पुत्रैषणा (पुत्रादि की कामना) सुखैषणा (सुख की कामना) इन कामनाओं के साथ स्वार्थ लाभ के लिये ही जीव भक्ति या भजन करता है वह, सगुणा भक्ति कही जाती है।

२. जहाँ लौकिक या अलौकिक सुखों की कोई कामना नहीं रहती। केवल भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये उनसे प्रेम करने के लिये सुदृढ़ स्नेह रूपा भक्ति हो वह निर्गुणा भक्ति है। उसमें निष्कामता की प्रधानता होती है भगवान का अनुरंजन ही मुख्य लक्ष्य होता है। यही परम सुदृढ़ स्नेहरूपा भक्ति प्रेमा भक्ति कहलाती है। वह प्रेमा भक्ति कहीं निष्काम एवं वात्सल्य रूपा होती है केवल भगवान को ही प्रसन्न करने का भाव रहता है। इसमें जीवात्मा का मनोरंजन भी होता है और साथ-साथ रात दिन भगवच्चिन्तन होता रहता है जैसे श्री यशोदा जी की भक्ति।

कहीं प्रिया या दासी के रूप में ईश्वर की आराधना जीव किया करता है जिसे प्रेमात्मिका भक्ति कहते हैं जैसे श्री गोपिका मण्डल की भक्ति। इस प्रकार अधिकारी भेद से भक्ति से बहुत से भेद हो जाते हैं। उसमें भी गुण धर्म मिश्रण से भक्ति के और भेद बढ़ जाते हैं। जैसे तामसी भक्ति राजसी भक्ति सात्विकी भक्ति। तदनन्तर इन सबके गुणों के परस्पर सम्मिश्रण से तामस-राजसी तामस सात्विकी, तामस तामसी, राजस तामसी, राजस सात्विकी राजस राजसी तथा सात्विक तामसी, सात्विक राजसी एवं सात्विक सात्विकी इत्यादि।

इसीलिये कहा गया है-

''परस्परालोकनकर्मजाता ख्यातिप्रसिद्धिप्रथिताप्रदृश्या।
कामाऽनुकूलाऽऽकलिता कृता चेत् प्रावाहिकी साऽभिमता मुनीन्द्रैः।
शास्त्रोक्तरीत्या नवधा श्रिताचेत्कालाऽनुरूपाखलु लोकसिद्धा।
राजोपचारै-र्विविधोत्सवाद्यै-र्मार्यादिकी, मुक्ति सुभुक्तिदा सा॥
सर्वं प्रभुः, साधन-साध्यरूपः क्रियाकलाप स्तदनुग्रहोऽयम्।
सेव्यः स, सेवा, स हि सेवकोऽपि नाहं तदन्यः स हि पुष्टिभक्तः॥
यद् यद् यथा कारयितुं तदीहा प्रभुस्तथा प्रेरयति स्वभृत्यम्।
सर्वस्वमुद्भावयतिस्वसेवां सम्पादयत्येव न जीवसाध्या।

यथा वृत्रासुरो जातः पुष्टिभक्तस्तथापराः ।
गोपिकाः पुष्टिपुष्टास्तास्तदनुग्रहभाजनम् ॥''

अपने शान्ति लाभ हेतु तीन इन्द्रियों का निग्रह अवश्य कीजिये । जो एक दूसरे के देखने से प्रकट होती है और अपनी कामना के अनुकूल जब वह स्वीकृत होती है तब वह मुनीन्द्रों के द्वारा प्रावाहिकी भक्ति कही जाती है । और जो शास्त्रोक्त विधि से समयानुसार लोक प्रसिद्ध राजोपचारादि विधि से एवं विविध उत्सवों के द्वारा नव प्रकार की भक्ति होती है वही मार्यादिकी भक्ति है वह भुक्ति और मुक्ति दोनों प्रदान करने वाली है । साधन साध्य क्रियाकलाप अनुग्रह सेव्य, सेवक और सेवा सब कुछ भगवान् ही है मैं भी उनसे अन्य नहीं हूँ यही पुष्टि भक्ति है भगवान् जो जो कार्य कराना चाहते हैं अपने सेवक को वैसी ही प्रेरणा देते हैं सर्वस्व को उद्भावित करते हैं और अपनी सेवा को सम्पादित करते हैं क्योंकि वह जीवसाध्य है ही नहीं वह तो केवल कृपा साध्य है । जैसे वृत्तासुर पुष्टिभक्त हुए और गोपिका ये सब भगवत्कृपाभाजन हुए हैं ।

इस प्रकार भगवान की प्रावाहिकी भक्ति अथवा नव प्रकार की मार्यादिकी भक्ति एवं भगवद् अनुग्रह स्वरूप जो पुष्टि भक्ति है वह एकमात्र भगवत्प्रेमस्वरूपा है और स्वात्मा से सर्वथा अभिन्न है उसी प्रकार सगुण भक्ति भी गुणों के भेद से सात्विक आदि अनेक होते हैं । नारद भक्ति सूत्र में कहा गया है कि गौणी भक्ति गुणों के भेद से अथवा आर्तादि के भेद से तीन प्रकार की होती है जैसा पहले लिखा गया है उसी प्रकार गीता में भी तामसी, राजसी और सात्विकी का स्वरूप बताया गया है ।

''अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भमात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥''
''विषयानभिसन्धाय यदा ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥''
''कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
यजेद् यष्टव्य-मिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥
किञ्च-''चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोर्जुन ।
आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥''

जो हिंसा का अभिसन्धान करके अथवा दम्भ और मात्सर्य का अनुसन्धान करके भेद बुद्धि से मेरे लिए जो कार्यारम्भ करता है वह तामस भक्त है । जो विषयों का चिन्तन करके यश, ऐश्वर्य की कामना से अपने को मुझसे पृथक् समझकर मूर्ति आदि में जो हमारी पूजा करता है वह राजस है कर्म से मुक्ति की कामना करके और भगवान् के प्रति समर्पण की भावना से अपने को मुझसे पृथक् समझकर भजन के योग्य का यजन करता है । वह सात्विक है । हे अर्जुन ! चार प्रकार के सुकृती लोग मेरा भजन करते हैं- आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ।

यहाँ चार प्रकार भक्तों में क्रमशः आर्त (दुखी) भक्त सगुण तमोगुणी है । धनार्थी भक्त सगुण रजोगुणी है । जिज्ञासु भक्त सगुण सतोगुणी कहा गया है । चौथा जो ज्ञानी भक्त है वह निर्गुण भक्ति वाला है और सगुण भक्तों में श्रेष्ठ है । सगुण भक्ति से ही भक्ति क्षेत्र का विकास होता है अतः सगुणा भक्ति नितान्त उपयोगी एवं परमावश्यक है ।

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥"

अर्थात् भक्ति के साधन या स्वरूप नौ प्रकार के हैं- भगवान् विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन इन साधनों के अभाव में भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि यह मर्यादा स्वरूपा है । इन्हीं साधनों से हम सुगमतापूर्वक भगवत्कृपा प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं । इन साधनों में भी किसी एक साधन के सिद्ध कर लेने से अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है । भगवत् प्राप्ति अथवा भगवत कृपा की उपलब्धि एक भक्ति से ही सिद्ध हो जाती है । श्रवणादि भक्ति के उपासक नौ प्रकार के भिन्न-भिन्न विशिष्ट भक्त हुए हैं जैसे-

यथाः- **"सिद्धोऽयं श्रवणे परीक्षिदभवत्, सङ्कीर्तने नारदः ।**
प्रह्लादः स्मरणे, हरेश्चरणयोः संसेवने पद्मजा ॥
अक्रूरो ह्यभिवन्दने, प्रथितसद्भक्तोऽम्बरीषोऽर्चने,
दास्ये मारुति-रर्जुनः सखिरसे, पौलस्त्य आत्मार्पणे ॥"

प्राचीन पद्यम्तु- **भक्तौ संश्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने ।**
प्रह्लादः स्मरणे, तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः, पृथुः, पूजने ।

अक्रूरो ह्यभिवन्दने, कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः,
सर्वस्वात्मसमर्पणे बलिरभूद्भक्ता नवोक्ता इमे ॥

जैसे- श्रवण भक्ति के श्रीपरीक्षित, कीर्तन भक्ति के नारद, स्मरण भक्ति के प्रह्लादजी, श्रीहरिचरणों के पादसेवन भक्ति के श्रीलक्ष्मीजी, वन्दन भक्ति के अक्रूरजी, अर्चनभक्ति में अम्बरीष, दास्य भक्ति में श्रीहनुमानजी, सख्यभक्ति में अर्जुनजी और आत्मनिवेदन भक्ति में श्रीविभीषणजी । प्राचीन पद्य में थोड़ा सा अन्तर है जैसे- कीर्तन में श्रीशुकदेव जी, पूजन में पृथुजी और आत्म निवेदन में राजा बलि आदि नवभक्त हैं ।

इस प्रकार नव प्रकार की भक्ति में प्रत्येक के अलग-अलग भक्त हुए हैं जैसे-

१. श्रवण भक्ति में भगवद्गुण श्रवण में परीक्षित जी श्रेष्ठ हैं । इनके समान दूसरा नहीं ।
२. संकीर्तन भक्ति में शुकाचार्य जी श्रेष्ठ हैं ।
३. स्मरण में प्रह्लाद जी जैसा दृढ़ स्मरण कर्त्ता कोई नहीं है ।
४. पाद सेवन में लक्ष्मी जी के जैसा कोई अन्य नहीं है ।
५. अर्चन में पृथु महाराज या अम्बरीष श्रेष्ठ हैं ।
६. वन्दन में अक्रूर जी से श्रेष्ठ अन्य नहीं है ।
७. दास्य में एकमात्र हनुमान जी महाराज है ।
८. सख्य भक्ति में अर्जुन जैसा कोई नहीं है ।
९. आत्म निवेदन में-अपने साथ-साथ अपना सर्वस्व समर्पण करने वाले महाराज बलि हैं ।

प्रपत्ति रूपा शरणागति में तो पौलस्त्य विभीषण का ही नाम आता है । इनके अतिरिक्त पुष्टि भक्ति में केवल भगवत् कृपा प्राप्त करने में ही तन्मयता रहती है ।

जैसे-गोपियाँ व्रजयुवतियाँ तन्मय भक्त हैं-

यथा- **"तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।**
तद्गुणानेवगायन्त्यो नात्माऽऽगाराणि सस्मरुः ॥"

श्रीकृष्ण भगवान के मन में अपना मन मिला देने वाली मात्र उन्हीं से वार्तालाप करने वाली उन्हीं की चेष्टाओं का अनुकरण करने वाली उन्हीं पर पूर्णतया आश्रित, उन्हीं के गुणों का गायन करती हुई उन गोपियों ने अपने देह तथा गेह की भी याद भुला दी थी।

इस प्रकार श्याम सुन्दर में तन्मय भक्तिमयी व्रजांगनायें श्रीगोपियां जैसी थीं दूसरे उस प्रकार के नहीं हुए इस प्रकार सांसारिक प्रयत्नों से मुक्त, मायाकृत सत, रज तम गुणों से रहित, केवल निर्गुण ब्रह्म में लीन ही निर्गुण भक्ति का अधिकारी हुआ करता है। यह भक्ति विषय वासना से रहित एवं सुख की भावना से रहित, निमित्त रहित केवल मुक्ति देने वाली होती है, जो मुमुक्षओं द्वारा सेवित है। इसमें अन्य कोई निमित्त या प्रयोजन नहीं होता। इस भक्ति के फल एकमात्र भगवान ही है, वहीं उपास्य हैं एवं वही सब कुछ हैं।

यथोक्तम् भगवता- "**मय्यर्पितात्मनः सम्यङ् निरपेक्षस्य सर्वतः।**

(भागवते ११/१४/१२) **मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्।**

श्रीमद् भागवत में भगवान ने स्वयं कहा है- अर्थात् जो सभी ओर से निरपेक्ष होगा किसी भी कर्म या फल की आवश्यकता नहीं समझता, और अपने अन्तःकरण को सब प्रकार से मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्द स्वरूप मैं उसकी आत्मा के रूप में स्फुरित होने लगता हूँ। उससे जो सुख होता है वो विषयी लोगों को भी नहीं हो सकता।

अतः जीवमात्र के स्वयं के कल्याण के लिये भगवद्भक्ति के अतिरिक्त इस संसार में अन्य कोई सुलभ सुगम साधन नहीं है। भक्ति किसी भी प्रकार की हो, सगुण या निर्गुण अपनी-अपनी प्रवृत्ति प्रकृति के अनुसार यदि उसकी उपासना की जाय तो उससे भगवत् प्राप्ति हो ही जाती है वह परम पुरुषार्थ रूप है। सभी के लिये भक्ति का द्वारा खुला हुआ है। भक्ति का यह पथ निष्कंटक है। मुक्ति या मुक्ति चाहने वालों के लिये सुगम एवं सुलभ कर्म भक्ति ही है। 'सर्वं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्' अर्थात् सब छोड़कर भगवद् भजन करना चाहिये। इस प्रकार उपदेश करते हुये आचार्य श्री ने सबको सन्तुष्ट किया।

बत्तीसवाँ परिच्छेद

''चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः ।
चन्द्रचन्दनतः श्रेष्ठा शीतला साधुसङ्गतिः ॥

संसार में चन्दन शीतल माना जाता है उससे भी शीतल चन्द्रमा माना जाता है । परन्तु चन्द्र और चन्द्रमा से भी श्रेष्ठतर शीतल सन्तों की संगति है ।

अगले दिन समस्त नित्य, नैमित्तिक एवं दैनिक कार्यक्रमों से निवृत्त होने के पश्चात् विविध प्रकार की पूजन सामग्रियों (चन्दन गन्ध माल्यादि) से युक्त हाथ वाले पीपा जी प्रभृति नागरिक भक्तों ने सुदृढ़ गुरुभक्ति भाव से पूर्ण हृदय से श्रीमद् गुरुवर श्री स्वामी रामानन्दाचार्य जी के पाद पद्मों का पूजन करके नम्रता श्रद्धा के साथ उनसे प्रवचनामृत के आनन्द दान हेतु प्रार्थना की ।

भक्तों की प्रवचन सम्बन्धी अभ्यर्थना को सुनकर आचार्य जी ने सहर्ष प्रवचन सुधा का वर्षण प्रारम्भ कर दिया भाग्यवान् वैष्णवाग्रगण्य ! कल के सत्संग सत्र में आपने उपपत्तिपूर्वक भक्ति का विवेचन श्रवण किया । आज भक्ति और प्रपत्ति (शरणागति) में जो भेद है उसका सुस्पष्ट विवेचन आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा ।

बहुत से भक्तों को यह भ्रम है कि प्रपत्ति नाम की कोई नवीन वस्तु है, जिसका स्वरूप भक्ति से भिन्न है, किन्तु यह जान लीजिये कि भक्ति और प्रपत्ति में कोई अन्तर नहीं है ।

प्रपत्ति भक्ति की सिद्धावस्था है । अपने उपास्य में पूरी तरह से सदैव सर्वस्व समर्पण करते हुये अपने आपको उन उपास्य देव के आधीन कर देना ही प्रपत्ति है । मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियादि लौकिक तथा अलौकिक पदार्थ-जैसे-पत्नी, भवन, पुत्र धन से उत्पन्न होने वाले सुख एवं अलौकिक स्वर्ग सुखादि सभी प्रकार की एषणाओं (इच्छाओं) का भगवान में ही समर्पण कर देना प्रपत्ति है । तुम्हारे सर्वस्व भगवान ही हैं । वही शरण हैं वही शरण्य हैं । मैं कुछ नहीं हूँ बिना मूल्य का दास हूँ । उनकी कृपा का पात्र हूँ । निस्साधन एवं निर्धन भक्त हूँ । इस प्रकार की स्थिति को प्रपत्ति

कहते हैं । यही भक्तों का चरम साधन है । यही भक्ति की सिद्धावस्था है । अर्थात् अपने उपास्य में तन्मय हो जाना ।

प्रपत्ति में श्रवणादि नौ भक्ति प्रकारों का विशेष विधान नहीं है । और न ही नियमोपनियमों के पालन एवं साधन का झंझट ही है । यहाँ तो केवल प्रभु कृपा ही सब कुछ है । वहीं ईश्वर साध्य, साधन और फल हैं । भगवान में तन्मय हो जाना ही पुरुषार्थ है । जीवों के जीवन की सफलता भगवत् कृपा की प्राप्ति ही है ।

उक्तञ्च ब्रह्मपुराणे-"**शरणं त्वां प्रपन्ना ये ध्यानयोग-विवर्जिताः ।**
तेऽपि मृत्युमतिक्रम्य, यान्ति तद्वैष्णवं पदम् ॥"

ब्रह्म पुराण में कहा गया है- ध्यान योग से रहित होते हुये भी जो लोग आपकी (भगवान की) शरण में आ गये हैं, वे मृत्यु को पार कर उस वैष्णव पद को प्राप्त कर लेते हैं ।

श्रीवाल्मीकीये रामायणेऽपि-"**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।**
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।"

श्रीवाल्मीकीय रामायण में भी वर्णन आता है- हे प्रभु ! मैं आपका हूँ इस प्रकार मात्र एक बार कहकर शरण में आने वाले व्यक्ति को भगवान् सभी प्राणियों से निर्भय कर देते हैं-यह उनका विरद है ।

गीतायामपि भगवतोक्तम्- "**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥"

गीता में भी कहा गया है- हे अर्जुन ! तू सभी धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जा । मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर ।

"**धर्माऽधर्मान् परित्यज्य त्वामेव भजतोऽनिशम् ।**
सीतया सह ते राम ! तस्य हृत् सुखमन्दिरम् ॥"

इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने श्रीराम से निवेदन किया जो धर्म और अधर्म का परित्याग करके निरन्तर आपको ही भजता है हे राम ! आप उसके हृदय रूपी सुखमय मन्दिर में निवास कीजिए ।

इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है कि धर्म, अधर्म, कृत, अकृत, नित्य नैमित्तिकादि सुख दुख के साधन भव (सांसारिक) बन्धनादि सबको छोड़कर

केवल भगवान के चरण कमलों के मकरन्द पान हेतु भ्रमर बनते हुये पूर्णरूपेण उनकी शरण हो जाना, उनका कृपा पात्र बन जाना ही प्रपत्ति का स्वरूप है ।

यहाँ प्रपत्ति के छः प्रकार हैं- अनुकूल कर्मों का संकल्प, प्रतिकूल कर्मों का त्याग, भगवान् हमारी रक्षा करेंगे यह विश्वास, भगवान् ही हमारे रक्षक हैं यह वरण, आत्मसमर्पण और दैन्य ।

१. भगवान् के अनुकूल कर्मों के करने का संकल्प,

२. भगवान् के प्रतिकूल कर्मों का सर्वथा त्याग,

३. भगवान् ही हमारे रक्षक हैं यह पूर्ण विश्वास,

४. समय आने पर भगवान् रक्षा करेंगे ही यह दृढ़ता ।

५. सब कुछ यह भगवान् का ही है मेरा कुछ नहीं है इस भाव से सभी पदार्थों और स्वयं अपना भी भगवान् को समर्पण ।

६. अपने में दीनत्व की भावना मैं तो साधन शून्य सर्वथा हीन और दीन हूँ ।

उक्तञ्च:- **सौख्यं दुःखमु-जीवनञ्च मरणं हानिः सुलाभो यशोऽ-**
मानं मानमिति स्वभाव कृतितोदिग्देशकालोद्भवः ।
मत्वा तान् भगवत्समीहितगुणान् नोद्वेजितः पालयेत्
शास्त्राज्ञामनुकूलनेत्यभिमता वाक्काय सत्कर्मभिः ॥

शरणागति का प्रथम अंग है-

१. आनुकूल्यम् अर्थात् अनुकूलता-अर्थात् देश, काल, कर्म तथा स्वभाव के अनुसार आने वाले सुख, दुख, हर्ष, शोक एवं मोहादि से विचलित न होकर यह भगवदिच्छा ही है यह मानकर सहन करने योग्य परिस्थिति न होने पर भी उसे सहन करते हुये मन, वाणी एवं कर्म से भगवान के साक्षात् आज्ञास्वरूप वेद स्मृति, पुराणादि वाक्यों का पालन करते रहना ही अनुकूलता है । सुख, दुख, जीवन, मरण, हानि, लाभ, यश, अपयश, मान, अपमान और स्वभाव, दिग्देशकाल आदि से होने वाले कर्म ये सब भगवान् की इच्छा से ही हो रहे हैं ऐसा मानकर कभी भी उद्वेजित न होना और मन, कर्म, वचन से शास्त्रानुकूल कर्म करना ही प्रथम शरणागति है ।

२. शरणागति का द्वितीय अंग है-प्रतिकूल वस्तुओं व्यक्तियों तथा परिस्थितियों का परित्याग कर देना । जैसे-काम, क्रोध आदि छः शत्रु जो देश, काल एवं स्वभाव से उत्पन्न हैं, एवं धन, पुत्र, पत्नी आदि जो भी प्रतिकूल हों, भगवद्भक्ति में बाधक हों, विद्वानों को उनका दूर से ही परित्याग कर देना चाहिये ।

३. तृतीय अंग है- 'रक्षयिष्यति इति विश्वासः' अर्थात् भगवान निश्चित ही मेरी रक्षा करेंगे ऐसा सुदृढ़ विश्वास होना ।

मैं भगवान के आधीन हूँ-एक मात्र भगवान ही मेरे परम बल हैं । वे प्रभु भी इस बात को जानते हैं अतः मेरी रक्षा अवश्य ही करेंगे ।

श्रीमद् भागवत में अम्बरीष सम्वाद में कहा गया है-

''ये, दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।''
''हित्वा मां शरणं याताः, कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥'' इति
''सर्वदाऽनुग्रहाकांक्षी स मे स्वामी दृढवती ॥''
''अम्बरीषमिवाऽस्माकं रक्षणे चक्रनन्दकी ॥'' इति ।

जो अपनी पत्नी, पुत्र, घर, आप्त व्यक्ति, धन और यहाँ तक प्राणों की परवाह न करके मेरी शरण में आ जाते हैं, उनको भला मैं कैसे छोड़ सकता हूँ । हर समय कृपा करने के लिए तत्पर दृढ़व्रती भगवान ही मेरे स्वामी हैं वे अम्बरीष की तरह हम लोगों की रक्षा में सतत सुदर्शन चक्र धारण किये रहते हैं ।

४. रक्षकत्ववरणम्-

''न मे मातापिताबन्धुः सुहृत् सार्थी कुटुम्बजः ।''
''परित्रस्तं विपद्ग्रस्तं यो रक्षेन्नाथ पाहि माम् ॥''

किञ्चः- **''सपदि विपदि रक्षामादधानः प्रभुर्नः स्मरति भजति भक्तेऽकिञ्चने निःसहाये ।**

''दययति करुणाब्धिस्त्रायते सङ्कटौघात्,
स्वसममिव वयस्यं संव्यधात् सम्पदाभिः ॥

तथाहिः- **''एते मे पतयोऽपि रुद्धगतयो भीष्मादयः स्तम्भिताः ।**
चीराकर्षणहर्षणोऽति बलवान् दुःशासनो दुर्मतिः ॥

एकाकिन्यहमस्मि नाथ ! शरणं नाऽन्यस्त्वदन्योऽधुना ।
दीनानाथ दयाम्बुधे ! हि दयतां दासी त्वदालम्बिनी ॥

किञ्चः- **"भीष्मद्रोणकृपाः कृपां विदधते नो, पाण्डवा निर्जिताः ।**
कर्तुं ते प्रभवन्ति नाथ ! न मनाक्, सङ्कीलिता धर्मतः ॥
दुर्दान्तो हि कृतान्तति ह्यकरुणो दुःशासनश्चीरहृद् ।
दीना हीनबलाऽबलाऽस्मि शरणं, मां पाहि सर्वेश्वर ! ॥

४. रक्षकत्व वरणम्-अपनी रक्षा के लिये एकमात्र भगवान का ही वरण (चुनाव) करना । और यह कहना- हे प्रभु ! मेरे माता पिता, बन्धु; सखा परिवारी जन एवं साथी कोई भी नहीं है, जो विपत्ति ग्रस्त एवं त्रस्त मेरी रक्षा कर सके अतः हे भगवन् ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।

इस संसार सागर की तरल तरंगों के थपेड़ों से मैं बहुत अधिक ताड़ित एवं प्रताड़ित हूँ । प्रभु मेरी रक्षा करें । आपके अतिरिक्त अन्य कोई मेरा रक्षक नहीं है ।

और भी कहते हैं- निःसहाय अकिंचन, भजन करने वाले भक्त की विपत्ति के समय रक्षा करने के लिये हमारे प्रभु तुरन्त उसका स्मरण करते हैं । उसकी सेवा करते हैं । करुणा सागर दया करके उसकी महान संकट से रक्षा करते हैं । और कहाँ तक कहूँ उसे अपना मित्र बनाकर अपने जैसा सम्पत्तिवाना देते हैं ।

इस प्रकार अपनी रक्षा के लिये एक मात्र भगवान का आवाहन करना ही रक्षकत्व वरण है । जैसे-कौरवों की सभा में द्रोपदी ने कहा-

हे प्रभु ! मेरे पतियों की गति रुद्ध हो गयी है । भीष्म पितामह आदि स्तम्भित हो गये हैं । दुर्मतिदु;शासन चीर खींचने में हर्षित होकर अपना बल लगाये हुये है नाथ ! मैं अकेली हूँ असहाय हूँ । आपके अतिरिक्त और कोई शरण देने वाला नहीं है । दीनानाथ ! दया के सागर ! आप अपना अवलम्ब लेने वाली मुझ दासी के ऊपर कृपा कीजिये-

हे नाथ ! पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तो कृपा नहीं कर रहे हैं, पाण्डव तो पराजित और धर्म से कीलित हो गये हैं, दुर्दान्त क्रूर दुःशासन चीर का हरण कर रहा है । हे सर्वेश्वर ! मैं दीन, हीन अबला हूँ आपकी शरण हूँ आप मेरी रक्षा करें ।

किञ्च- **"देहं गेहमसुं सहस्वविभवप्राणेन्द्रियैर्वाङ्मनो**
विद्यागौरव वंशवाहनमहैश्वर्य प्रतिष्ठादयः ।
यद्दत्तं भवता, ममेत्यभिमता दारात्मजाः सङ्गताः,
सर्वांस्तान् भवतेऽर्पयामि, न ममेत्येतत् त्वदीयं हि ते ॥

५. आत्म निक्षेप-सर्वस्व समर्पण यहाँ तक कि स्वयं को भी भगवान के लिये समर्पित कर देना आत्म निक्षेप है । जैसे-

हे करुणा वरुणालय भगवन् ! इस संसार में मुझे जो भी वस्तु मिली है वह सब आपकी ही दी हुई है । किन्तु मैंने इन वस्तुओं को अपनी मान रखा है । देह, घर, प्राण, अपना वैभव इन्द्रियाँ, वाणी, मन, विद्या, गौरव, वंश, वाहन, महान, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि सब मैं आपको ही समर्पित कर रहा हूँ ।

तथाहिः- **"दासोऽहं दीनहीनस्तवशरणगतः सर्वदा तेपराधी ।**
साऽधिव्याधि प्रकोपाऽनल जगदनिलोद्धूतसंज्वालमालः
नाऽहं कस्यापि नो मे सुतधनवनितादेहविद्रोहिणोऽमी
सर्वस्वं मे त्वमेव ह्यशरणकृपणं पाहि मां विश्वबन्धो !

हूँ सब विधि अपराधी तेरा, दीनहीन शरणगतदासे ।
आधि व्याधि क्रोधानल ये सब, जगत पवन से बढ़ अकाश ॥
सुत धन पत्नी सभी देह के द्रोही मेरे ।
यह विचारि रघुनाथशरण मैं आया तेरे ॥
मैं अनाथ नहिं किसी का तेरा हूँ बस दास ।
शरण रहित मुझ दीन की रक्षा करो रघुनाथ ॥

६. कार्पण्य- अपने में दीनत्वभावना- हे नाथ ! मैं कुछ नहीं करने लायक हूँ दीन और सर्वथा हीन हूँ परन्तु सर्वथा आपका हूँ । हे भगवन् ! मैं सब प्रकार से आपका अपराधी हूँ । आधि, व्याधि काम, क्रोधादि से युक्त मैं अहंता और ममता की ज्वाला से जल रहा हूँ । मेरे ये पुत्र, पत्नी, गृहादि सभी द्रोही हैं न तो ये मेरे हैं और न ही मैं इनका हूँ । अब तो आप ही मेरी शरण हैं, रक्षक हैं । मैं सर्वसाधनों से हीन दीन एवं कृपण आपकी चरण शरण में आ गया हूँ । आप इस समस्त चराचरात्मक विश्व के बन्धु हैं अतः मेरे भी बन्धु हैं । मेरी रक्षा कीजिये । इस प्रकार

शुद्धात्मा से सर्वथा दीन हीन साधन से विहीन भगवान् के अधीन होना चाहिए। जब इन छ; अंगों से युक्त शरणागति सिद्ध हो जाती है तभी वह सिद्धि प्रदात्री एवं पुरुषार्थ रूपा बनती है।

यह शरणागति भी अधिकारी भेद से कई प्रकार की होती है। जैसे राजसी, तामसी सात्विकी एवं त्रिगुणमयी। शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक ये भी तीन भेद हो सकते हैं। किन्तु पहले बताये गये नियम के अनुसार जब शुद्ध भावात्मक शरणागति सिद्ध हो जाती है तब ये इस प्रकार के भेद गौण (अप्रधान) हो जाते हैं।

शरणागति की क्या आवश्यकता है? इसको क्यों महत्त्वपूर्ण माना गया है? इस पर भी एक दृष्टि डालें-

जब जीव अपने जन्म जन्मान्तर के कर्मबन्धनों में पड़कर बार-बार जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़ा हुआ विशेष क्लेशकी अनुभूति करता है, संसार सागर में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि की लहरों में डूबता और निकलता हुआ तथा ईर्ष्या द्वेषादि मगरमच्छों के आक्रमणों से त्रस्त होकर अपने दु:खों का पार न देखते हुये अत्यधिक श्रान्त एवं क्लान्त हो जाता है। जब वह अपने अनेक प्रकार के कर्म फलों के भोग भोगने हेतु चौरासी लाख योनियों में आने और जाने से होने वाले असहनीय क्लेशों से क्लेशित हो जाता है तभी वह अपने को बेचारा और बेसहारा समझकर एकमात्र प्रभु की शरण ग्रहण करता है। तब परमकारुणिक प्रभु दयार्द्र होकर अपार करुणा का प्रसार करते हुये शीघ्र ही उसे कृमि, कीट, पतंग, पक्षी आदि ज्ञान विज्ञान से शून्य योनियों के गमनागमन से मुक्त कर सब प्रकार के विवेक से पूर्ण सकल साधनों से सम्पन्न इस मानव देह को उसे प्रदान करते हैं। इसी पुरुषार्थ के लिये।

तदनन्तर यह जीव प्रभु कृपा का आश्रय प्राप्त कर क्रमशः चन्द्र लोक से संचरण करता हुआ आकाश में, आकाश से, वायु में, वायु से, तेज में, तेज से, आकाश में, आकाश से, मेघ में, मेघ से जलरूप बनता हुआ भूमि में वृष्टि के रूप में आता है। भूमि को प्राप्त कर अन्नादि रूप में प्रवर्तित हो जाता है। अन्न रूप बनकर जब भगवत् कृपा से श्रेष्ठ योनि को प्राप्त मनुष्य द्वारा उसका उपभोग किया जाता है, तब वह अन्न उसके शरीर

में क्रमशः रस, वीर्यता को प्राप्त कर माता-पिता के संयोग से माता के गर्भ में पञ्च महाभूतात्मक पिण्ड में बदल जाता है । एक रात्रि में 'कलल' के रूप में सात रात्रियों में बुलबुले के रूप में पन्द्रह दिनों में पिण्ड के रूप में तथा एक माह में वह पिण्ड कठोरता को ग्रहण कर लेता है उसमें दूसरे महीने में शिरोभाग प्रकट हो जाता है । तीन महीने में पैर हाथ आदि अलग-अलग दिखाई पड़ने लगते हैं । चौथे महीने में घुटने, पेट आदि का निर्माण हो जाते हैं । पञ्चम मास में पीठ, छठवें माह में मुख नासिका आदि सातवें महीने में यह पिण्ड जीव संयुक्त हो जाता है । माता-पिता के शुक्र (रेत) से उत्पन्न यह पिण्ड शरीर है । आठवें माह में सभी लक्षणों से सम्पन्न होता हुआ पिता की प्रधानता से इसमें पुरुषत्व आ जाता है । मन, बुद्धि आदि से संयुक्त होकर जीव भूख, प्यास का अनुभव करने लगता है । नवम मास में माता के द्वारा खाये पिये हुये अन्न पानादि से अपना पोषण प्राप्त करने लगता है । उस समय अपने पूर्वजन्मों के हजारों कृतकर्मों का इसे स्मरण होने लगता है और उन उन शरीरों में किये हुये पाप पुण्य को स्मरण करता हुआ तथा गर्भवास के कष्टों का अनुभव करता हुआ इस संकट से शीघ्र ही मुक्त करने के लिये जगत् के रचनाकार और जीवमात्र के रक्षक ईश्वर से जीव स्तुति एवं प्रार्थना करता है ।

नाथ ! मैंने जिन परिजनों के लिये उचित अनुचित अनेक प्रकार के कर्म करके उनका भरण पोषण किया है, वे ही लोग आज मुझे अकेला छोड़कर सुखों का उपभोग करने के बाद न जाने कहाँ चले गये हैं । केवल एक मैं ही उन किये हुये कर्मों का फल भोग रहा हूँ । दुखों के समुद्र में निमग्न मैं अब कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ जिससे मेरा कल्याण हो सके ।

परन्तु प्रभु मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि इस योनि से इस कष्ट से आप मुझे मुक्त कर दें तो मैं अशुभ विनाशक, फल मुक्ति दायक आपकी शरण को अवश्य ग्रहण कर लूँगा । इस प्रकार गर्भगत जीव करुण प्रार्थना करता है । अपार करुणा सागर आर्तत्राण परायण प्रभु शीघ्र ही द्रवित होकर उसे गर्भवास से मुक्ति दे देते हैं ।

जैसे ही वह जीव प्रसूति पवन के द्वारा प्रेरित होकर योनि के सूक्ष्म द्वार से भगवत कृपा से जिस किसी तरह से बाहर आ जाता है भूमि का स्पर्श कर लेता है, भगवान की जगत् मोहिनी माया से स्पृष्ट होकर व्याकुल

हो जाता है । उसकी अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान एवं स्मृति शीघ्र ही विलीन (समाप्त) हो जाती है ।

उसे अपना कोई रक्षक दिखाई नहीं पड़ता । संकट से मुक्त करने वाले समुद्धर्त्ता भगवान भी उसे याद नहीं आते, दिखाई नहीं पड़ते । तब वह विवश होक अज्ञान से आवृत्त होकर केवल रुदन करता रहता है अन्य कुछ भी करंने में समर्थ नहीं हो पाता । अरे भगवान् की माया बड़ी बलवान है ।

उक्तञ्च भगवतैव:-"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।" (गीता० ७/१४)

भगवान ने स्वयं कहा है- हे अर्जुन ! मेरी गुणमयी माया बड़ी ही दुरत्यय है जो मेरी शरण में आ जाता है वे ही इस माया को पार करते हैं ।

अत: यह अज्ञानी जीवात्मा माया के पराधीन होकर कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो पाता ।

एकमात्र प्रभु का आश्रय ही माया का अपहारक और जीव का उद्धारक है । यही कारण है कि जीवों के लिये एकमात्र भगवत् शरणागति ही कल्याणकारिणी है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी का भी आश्रय उसके लिये कल्याण प्रद नहीं है ।

तैंतीसवाँ परिच्छेद

जैसे सूर्य मण्डल की किरणें चारों और फैले हुये रात्रि के अन्धकार को दूर कर सभी लोगों को अपने अपने कार्य व्यापार में श्रेय अथवा प्रेय में प्रवर्तित करती हुईं समस्त भूमण्डल में, दूर दूर तक प्रकाश फैलाकर भुवन को अलंकृत कर देती हैं, ठीक इसी प्रकार श्रीमद् रामानन्दाचार्य की प्रवचन माधुरी एवं अपने विषय प्रतिपादन की चातुरी ने कितने जनों के हृदयों में भगवद् भाव की भागीरथी प्रवाहित कर संसार रूपी अग्नि ज्वाला में सन्तप्त हृदयों को शीतल कर दिया। उनकी सुयशरूपी शरद् चन्द्रिका ने अपनी शुभ्र किरणों से- सम्पूर्ण मालव प्रदेश को धवलित कर दिया।

उनके प्रवचन को सुनने के लिये अतीव प्रसिद्ध भगवद् भक्त, विशिष्ट विद्वान और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न परम भागवत जनों के अतिरिक्त मीमांसक कर्मठ वैदिक याज्ञिक, वैज्ञानिकों के साथ-साथ लौकिक उपभोगों में आसक्त जन भी आ रहे थे। अधिक क्या कहा जाय वहाँ के प्रसिद्ध और सिद्ध समुपासक, शाक्त एवं कौल भक्त भी वहाँ एकत्रित हुये। समागत जनों में अग्रगण्य श्री कार्तिकेय चरण नामक एक सज्जन ने अतीव श्रद्धा एवं आदर के साथ आचार्य जी के समीप आकर चरणों में प्रणाम करते हुये, गन्धादि उपचारों से पूजन कर प्रशान्त, गम्भीर एवं धीर वाणी में नम्रतापूर्वक निवेदन किया। आचार्यवर्य्य ! जैसे कोई दुखी दरिद्र व्यक्ति भिक्षाटन हेतु निकले और मध्य मार्ग में ही उसे अपार रत्न धनराशि प्राप्त हो जाय तथा उसे पाकर उसका लोभ और बढ़ जाय, किन्तु धनराशि इतनी हो कि उसका संचय या ग्रहण वह न कर पा रहा हो तृप्त भी न हो रहा है उससे छोड़ा भी न जा रहा हो। ठीक वही स्थिति हम लोगों की भी है। अनन्त गुण युक्त समुपदेशामृत सागर का पान करते हुये भी प्रवचन सुधा का आस्वादन करते हुये भी ज्ञान की पीपासा और बलवती होती जा रही है उपदेश रूपी महारत्नों को चुनते हुये भी अन्तरात्मा तृप्त नहीं हो रही है।

भक्ति एवं शरणागतिका सुन्दर विवेचन सुनने के पश्चात् हम सबकी प्रार्थना एवं जिज्ञासा है कि 'शरण्य' 'शरण' का स्वरूप प्रतिपादित करने की कृपा करें। भगवदनुरक्ति, समुपदेश श्रवण की आसक्ति देखकर तथा अति

गम्भीर प्रश्न को सुनकर परमानन्द में निमग्न आचार्य श्री ने प्रश्नकर्त्ता की प्रशंसा की ।

उस समय श्रीकार्तिकेय जी की जिज्ञासा को समझकर भक्तों की अन्तरात्मा को संतृप्त करने के लिए श्रीरामानन्दाचार्य जी ने वेदोक्त शान्ति पाठ करने के पश्चात् अपने शुभाशीष से सबका अभिनन्दन करते हुये प्रवचन का प्रारम्भ किया हे जिज्ञासु भक्त जन श्रोताओं ।

यही प्रश्न श्री अगस्त्य महामुनि ने श्रीहनुमान जी से किया था, उत्तर में हनुमान जी ने कहा था-

ज्ञेयं प्राप्यस्य रामस्य रूपं प्राप्तुस्तथैव च । प्राप्त्युपायं फलञ्चैव तथा प्राप्ति विरोधि च । - (हनुमत् संहिता)

अर्थात् प्राप्य श्रीराम का स्वरूप, प्राप्ता जीव का स्वरूप, प्राप्ति के उपाय, प्राप्ति के विरोधि और प्राप्ति का फल आदि । इसके द्वारा 'शरण्य' परब्रह्म श्री राम ही प्राप्य हैं । (पाने योग्य हैं) उनके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । प्राप्त करने वाला जीव 'शरण' है, ईश्वर का अंश है, अविनाशी है, नित्य चेतन है, उस प्राप्ता को उनके पाने का उपाय भी जानना चाहिये । परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय 'विवेक' है जो अर्थ पंचक शब्द के रूप में वैदिक भाषा में प्रसिद्ध है । और उसका फल भी भगवत् प्राप्ति रूप ही है । भगवत् प्राप्ति में जो बीच में आने वाले व्यवधान या विघ्न हैं उनका भी ज्ञान आवश्यक है । अर्थात् भगवत् शरणागति में पाँच प्रकार का ज्ञान अपेक्षित है । (१) शरण्यम् (२) शरणम् (३) विवेकः अर्थात् प्राप्ति का उपाय (४) प्राप्ति के बीच में आने वाले विघ्न (५) फलम् अर्थात् भगवत् प्राप्ति । इन सब का ज्ञान करने के बाद ही शरणागति सिद्ध होती है ।

इनमें 'प्राप्य' वह परमेश्वर है जिसको प्राप्त करने के बाद जीव कृतार्थ हो जाता है । जो ईश्वर मानव कल्याण हेतु दृढ़ संकल्प है, परम दयालु हैं, जीवों के द्वारा सदैव उपास्य है और परम पुरुषार्थ स्वरूप है ।

''दिव्यानन्तगुणः श्रीमान् दिव्य मंगल विग्रहः ।
षड्गुणैश्वर्य सम्पन्नो, मनोवाचामगोचरः ॥
वेदवेद्यः सर्व साक्षी, सर्वोपास्य स्वतन्त्रकः ।
नित्यानां नित्य भक्तानां भोग्यभूतः श्रियः पतिः ।''

'ब्रह्मविष्णुमहेश्वराणां कारणं सर्वव्यापकः ।
मूलं तु ह्यवताराणां धर्मसंस्थापकः परः ।'
''द्विभुजश्चापहस्तश्च, भक्ताभीष्ट-प्रपूरकः ।
वैदेही वल्लभो नित्यं कैशोरे वयसि स्थितः ।
एवं भूतश्च ज्ञातव्यो रामो राजीवलोचनः

अर्थात् अनन्त दिव्य गुण सम्पन्न, मंगलमूर्त्ति श्री सम्पन्न छः गुणों एवं ऐश्वर्यों से युक्त मन और वाणी से परे प्रभु श्रीराम हैं । पोषण, भरण, आधार, शरणागत, रक्षक, व्यापक एवं कारुण्ययुक्त इन छः गुणों से सम्पन्न सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, चर और अचर के साक्षी, अगणित आनन्द स्वरूप, भक्तवत्सल श्रीराम ही प्राप्य हैं, उनकी ही शरण ग्रहण करने योग्य है । क्योंकि-

प्रभु श्री राम ब्रह्मा, विष्णु महेश के भी कारण (जन्मदाता) हैं सर्वव्यापक हैं । अवतारों के मूल है और श्रेष्ठ धर्म के संस्थापक है वहीं परम पुरुष श्रीराम दाशरथि राम कहलाये ।

अथर्ववेद में भी इसका उल्लेख है-

श्री राम ही सत्य पर ब्रह्म हैं । उनके अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है ।

दो भुजाधारी हाथ में सुशोभित धनुष वाले भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने वाले, वैदेही वल्लभ नित्य ही किशोरावस्था में स्थित रहते हैं । उन्हीं को राजीव लोचन राम समझना चाहिये ।

''द्विहस्तमेकवक्त्रञ्च शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
सहस्त्रकोटि वह्नीन्दु-लक्षकोट्यर्कसदृशम् ।
मरीचिमण्डलेसंस्थं बाणाद्यायुधलाञ्छितम्
किरीटहारकेयूर वनमालाविभूषितम् ।
पीताम्बरधरं सौम्यं रूपमाद्यमिदं हरेः ॥

श्रीरामतापनीयोपनिषदि-

''ततः सिंहासनस्थः सन् द्विभुजो रघुनन्दनः ।
धनुर्धरः प्रसन्नात्मा सर्वाभरण भूषितः ॥''

श्रीरामजी के दो दिव्य हाथ, एक मुख, शुद्ध स्फटिक मणि जैसी दिव्य कान्ति, हजार करोड़ अग्नि और चन्द्रमा तथा एक लाख करोड़ सूर्य जैसी दिव्य आभा से युक्त मरीचिमण्डल में स्थित चाप वाणादि आयुधों से लाञ्छित, किरीट, हार केयूर और वनमाला आदि से समलंकृत दिव्य पीताम्बर धारण किये हुए श्रीठाकुरजी का यह पहला दिव्य रूप है ।

श्रीरामतापनीयोपनिषद् में मणिमय दिव्य सिंहासन पर विराजमान द्विभुज धनुष धारण करने वाले सर्वाभरणों से समलंकृत प्रसन्नात्मा भगवान् रघुवंशभूषण श्रीराम है ऐसे रामजी ही शरण्य और प्राप्य हैं ।

२. प्राप्ता-(शरणम्) जो प्राप्त करने योग्य वस्तु को प्राप्त करने के लिये अर्थात् प्रभु की शरण ग्रहण करने के लिये प्रयत्नशील है उसे प्राप्ता कहते हैं । वह प्राप्ता जीव ही है । जो भगवान का अंश है । अविनाशी, चेतन, नित्य और शरण का इच्छुक है ।

''स्थूलसूक्ष्मकारणतो भिन्नं, दिव्यविग्रहसंयुतम् ।
(हनुमत्संहिता-) **जाग्रत्स्वप्नाद्यवस्थानां साक्षिभूतं तु सर्वदा ॥**
चिदानन्दमयं नित्यं दिव्यविग्रहसंयुतम् ।
अखण्डैकरसं, चैव कैशोरे वयसिस्थितम् ।''
द्विभुजं सत्त्वसम्पन्न मीशसेवाप्रयोजनम् ।
प्रभोर्नियाम्यं शेषञ्च ज्ञातव्यं स्वस्वरूपकम् ॥''

जीव का स्वरूप हनुमत् संहिता में इस प्रकार है- जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर से भिन्न, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय इन चार कोशों से भी भिन्न आनन्दमय रूप, अखण्ड एकरस, सत्त्व सम्पन्न एवं भगवत् सेवा परायण है वही जीव है, जिसके नियामक श्रीरामचन्द्र जी ही है। वह उन्हीं का अंश भूत है वह भगवान की शरणागति का ही अभिलाषी होता हुआ भगवान का दास बन जाता है ।

किञ्च- **''नित्योऽज्ञश्चेतनोऽजः सततपरवशः सूक्ष्मतोऽत्यन्तसूक्ष्मो**
भिन्नोबद्धादिभेदैः प्रतिकूणपमसौ नैकधा सूरिवर्य्यैः ।
श्रीशाऽऽक्रान्तालयस्थो निजकृतिफलभुक्तत्सहायोऽभिमानी
जीवः सम्प्रोच्यते श्रीहरिपदसुमते तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः ॥''

जीव नित्य आदि मध्य, अन्त से हीन है, भगवान की अपेक्षा अल्पज्ञ है, अजन्मा और चेतन है भगवान के आधीन है, सूच्छमाति सूच्छम प्रत्येक शरीर में अलग-अलग है । और वह मुक्त, नित्ययुक्त आदि भेद वाला है । अपने कर्मों के फल का भोक्ता है । अपने को अहं मम के ग्रहों से ग्रस्त मानता हुआ भगवच्चरण कमल मधुकर बनकर तत्त्व की जिज्ञासा करता है ।

भगवताऽऽप्युक्तम् (गीता: २/२०)-

''न जायते म्रियते वा कदाचिद्, नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥''

(एवमेव कठोपनिषदि-)

''न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

बृहदारण्यके (३/७/३-२३)

किञ्च- **''द्वासुपर्णा सयुजा, सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।**
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वति अनश्नन् अन्योऽभिचाक शीति ।''

(मुण्डकोपनि० ३/१)

पुराणेष्वपि- **''द्वासपुर्णा तयोरेकः खादति पिप्पलान्नं,**
अन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ।''

भगवान ने भी कहा है- कभी भी यह जीव न पैदा होता है, न मरता है, न पहले था और न बाद में होने वाला है यह तो अजन्मा, नित्य, प्राचीन और शाश्वत है शरीर के मारे जाने पर भी यह मरता नहीं है ।

इसी प्रकार कठोपनिषद् में हे विद्वन् यह जीव न जन्मता है, न मरता है न कहीं से आता है न कहीं जाता है वह अज, नित्य शाश्वत है शरीर के मारे जाने पर भी मरता नहीं है वृहदारण्यकोपनिषद् में-जो पृथिवी में रहता हुआ अन्तर्यामी रूप से पृथिवी का अनुशासन करता है उसे पृथिवी भी नहीं जानती है ।

मुण्डकोपनिषद् में- साथ-साथ रहने वाले तथा समान आख्या वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय करके रहते हैं । उनमें एक तो स्वादिष्ट (मधुर) पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है ।

पुराणों में भी द्वासुपर्णा यह श्लोक है- उन दोनों में एक तो सुस्वादु फलों को खाता है दूसरा बिना खाये ही अत्यधिक बलवान् है ।

इस प्रकार जीव और ईश्वर के परस्पर चार-चार सम्बन्ध हैं । दोनों सजातीय हैं, सखा हैं, सहचर हैं और साक्षी हैं, एक स्थान में स्थित हैं । जीव सांसारिक पदार्थों के उपभोग के कारण बन्धन में पड़ जाता है किन्तु ईश्वर भोग से विरत रहने के कारण स्वतन्त्र है बन्धन मुक्त है ।

कुछ जीव अपने आनन्दमय स्वरूप को भूलकर असत्य रूपा माया के मोह में पड़ जाते हें और इसी को आनन्द मान लेते हैं वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्यादि विकारों से ग्रस्त हो, मानव शरीर को पाकर भी भगवान की समीपता प्राप्त नहीं कर पाते । वरन् पर निन्दा, अपकार, दुर्जनों के संग में आसक्ति, सत्संगादि से विमुख होकर भगवत् सेवा से विरक्त रहते हैं । सांसारिक कामिनी राग रंग में लौकिक भोगों में आसक्त रहते हैं । अन्याय, अधर्म, असत्य, अहंकार, दम्भ, मान, मद, क्रूरता, शठता, दुर्जनता, निर्लज्जता आदि विविध फल का भोग करते हुये भी अपने को सुखी मानते रहते हैं । ऐसे ही बद्ध एवं आसुरी भाव सम्पन्न जीवों को गीता में कहा गया है-

''काममाश्रित्यदुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृता ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेशुचौ ॥
''तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
''आसुरीं योनिमापन्ना मूढाजन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

कभी न संतुष्ट होने वाले काम का आश्रय लेकर तथा गर्व के मद एवं मिथ्या प्रतिष्ठा में डूबे हुए आसुरी लोग इस तरह मोहग्रस्त होकर सदैव क्षण भंगुर वस्तुओं के द्वारा अपवित्र कर्म का व्रत लिए रहते हैं ।

इस प्रकार अनेक चिन्ताओं से उद्विग्न होकर तथा मोहजाल में बँधकर वे इन्द्रिय भोग में अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं और नरक में गिरते

हैं । जो लोग ईर्ष्यालु तथा क्रूर हैं और नराधम हैं उन्हें मैं निरन्तर विभिन्न आसुरी योनियों में भवसागर में डालता रहता हूँ । हे कुन्ती पुत्र ! ऐसे व्यक्ति आसुरी योनि में बार-बार जन्म ग्रहण करते हुए कभी भी मुझ तक नहीं पहुँच पाते हैं वे धीरे-धीरे अधम गति को प्राप्त होते हैं ।

इस प्रकार के आसुरी भाव सम्पन्न जीव भी भगवत् कृपा से कभी किसी भी बहाने से किसी प्रकार यदि भगवान् की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं तो ऐसे लोगों का भी उद्धार हो जाता है । जैसे अपने पुत्र के बहाने से चार अक्षर के 'नारायण' नाम का उच्चारण करने से अजामिल यमदूतों के द्वारा मुक्त कर दिया गया ।

क्योंकि भगवान जीव के उद्धार हेतु स्वयं कृपा करके उसके हृदय में स्थित होकर उसके पापों को नष्ट कर पापरहित बनाकर उसका उद्धार कर देते हैं । ऐसे लोगों का भगवत् स्मरण में ही कल्याण है ।

''बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयां स्त्यक्त्वा रागद्वेषौव्युदस्य च ॥

(गीता १८/५१-५३)

जो सदैव महापुरुषों के सत्संग में शास्त्रों के अभ्यास में सद्गुरु की सन्निधि में रहते हुये प्रतिदिन भगवद्दर्शन, भगवद् गुणानुवाद, कीर्तन और प्रतिक्षण भगवत् पूजन में संलग्न रहते हैं अहन्ता और ममता युक्त संसार के क्षणिक सुखों को अनित्य समझकर अपने को शुद्ध बुद्ध लौकिक विषयों से परे एवं नित्य आनन्दमय मानकर मोक्ष के साधनों की ओर लग जाते हैं, तथा प्रतिपल भगवान के चरण कमलों का ही सेवन करते रहते हैं वे वस्तुतः मुमुक्षु हैं मोक्ष के अभिलाषी हैं ।

गीता में कहा गया है- विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर धैर्य के द्वारा आत्म नियन्त्रण करते हुये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का सेवन न करते हुये जो राग और द्वेष से अपने को जो विरत कर लेते हैं वहीं मुमुक्षु हैं ।

''ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥''

जो सदैव समाधि में रहता है तथा पूर्णतया विरक्त, मिथ्या अहंकार, मिथ्या शक्ति, मिथ्या गर्व, काम, क्रोध तथा भौतिक वस्तुओं के संग्रह से मुक्त है जो मिथ्या स्वामित्व की भावना से रहित तथा शान्त है वह निश्चय ही आत्मसाक्षात्कार के पद को प्राप्त होता है। इस प्रकारजो आत्मसाक्षात्कार कर लेता है वही भगवान् के श्रीचरणों का अधिकारी मुमुक्षु जीव है । क्योंकि मोक्ष का अभिलाषी (मुमुक्षु) अपने आराध्य भगवान श्री राम अथवा श्री कृष्ण का प्रतिक्षण साक्षात्कार करने के लिए सदैव आतुर रहता है अतः प्रतिदिन ध्यान करने से तन्मयता प्राप्त हो जाती है और साधक तद्रुपता प्राप्त कर लेता है । यही मुमुक्षु की सिद्धावस्था कहलाती है ।

मुक्त जीवों की स्थिति का विवरण

मुक्त जीव वे ही कहे जाते हैं, जो मन, वाणी, कर्म से एवं परम श्रद्धा के साथ षड्गुणों तथा ऐश्वर्यो से सम्पन्न भगवान श्रीराम की जीवन भर उपासना करते हैं भगवत् कृपा से महान महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं । नित्य नैमित्तिक कर्मों को करते हुये भी कर्मफल की आकांक्षा से रहित होते हैं । स्वतः भगवत् प्रेरणा से ही समस्त देह धर्मों का निर्वाह करते हुये, लौकिक तथा अलौकिक उपभोगों से विमुख रहते हैं । उनमें भगवद्गुण प्रकट हो जाते हैं । प्रतिक्षण भगवान श्री रामचन्द्र जी का ही स्मरण करते हुये प्रतिश्वांस में ही राम नाम संकीर्तन करते हुये अन्तिम समय में भी कोटिकन्दर्प कमनीय प्रभु श्री राम का अपने मानस मन्दिर में ध्यान योग से साक्षात्कार करते हुये लौकिक कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं । जन लोक में परमेष्ठिमण्डल पहुँचकर नित्य साकेत धाम, गोलोकधाम एवं नित्यानन्द धाम को प्राप्त कर लेते हैं । वहाँ इच्छानुसार भगवान के साथ विहार करते हैं । प्राण विसर्जन के पूर्व जीवितावस्था में भी मुक्तभाव से ही निवास करते हुये, सदैव भगवत् सेवा करते हुये ही जीवनयापन करते हैं । लौकिक, कामक्रोध आदि मायिक कर्म बन्धनों से मुक्त होकर आनन्द धाम कौशिल्यानन्दन श्रीराम का वन्दन किया करते हैं सम्पूर्ण काल कर्म एवं स्वभाव के प्रभाव से अछूते रह कर सभी प्राणियों के प्रति दयाभाव दिखाने वाले वे महामनस्वी जीवन्मुक्त परमहंस की संज्ञा से विभूषित हो जाते हैं ।

वे जो कि इस प्रकार जानते हैं तथा वे जो कि वन में श्रद्धा और तप इनकी उपासना करते हैं प्राण प्रयाण के अनन्तर अर्चि के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं अर्चि के अभिमानी देवताओं से दिवसाभिमानी देवताओं को, दिवसाभिमानियों से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताओं को, शुक्लपक्षाभिमानियों से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर जाता है उन छः महिनों को, उन महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं वहाँ एक अमानवपुरुष है वह उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करा देता है यह देवयानमार्ग है । (यह छान्दोग्योपनिषद् में अध्याय ५ खण्ड १० में) और भी (छान्दोग्योपनिषद् ७.२६१२ में) विद्वान् न तो मृत्यु को देखता है न रोग को, और न दुःखत्व को ही । वह विद्वान् सबको आत्मरूप देखता है अतः सबको प्राप्त हो जाता है । वह एक होता है फिर वही तीन, पाँच, सात और नवरूप हो जाता है फिर वही ग्यारह कहा गया है तथा वही सौ, दश, एक सहस्र और बीस भी होता है । इस प्रकार मुक्त जीव अनेक प्रकार के होते हैं संकल्प मात्र स्वरूप होते हैं भगवान् की सेवा के लिए जब जिस रूप की आवश्यकता होती है तत्क्षण वही बन जाते हैं जैसे श्रीहनुमान् जी समय पाकर वानर मानवादिरूप धारण करते थे सदा ही भगवान् की सेवा करते थे ऐसे ही जीव जीवनमुक्त कहे जाते हैं ।

श्री हनुमान आदि पूर्णरूपेण भगवत् सेवा में निरत रहने के कारण भगवत् स्वरूप ही माने जाते हैं । क्योंकि भगवत् धर्म एवं गुणों से युक्त सभी भगवान के अनन्य भक्त नित्य, मुक्त, शुद्ध एवं भगवत् स्वरूप ही है ।

नित्य जीव वे हैं जो निरन्तर भगवान की समीपता का सेवन करते हैं और पूर्ण रूप से भगवान की सेवा करते हैं । भगवान के द्वारा दिये गये समस्त ऐश्वर्य का भगवान की प्रसन्नता एवं सेवा के लिये उपयोग एवं प्रयोग करते हैं । रात दिन भगवान के ध्यान में और उनके निरन्तर स्मरण में आनन्दमग्न होकर अपने आपको भी जो भूल जाते हैं । प्रतिक्षण भगवत् कृपा के आनन्द का उपभोग करते हुये अवतार की स्थिति में भगवान की आज्ञा से प्रभु के द्वारा निर्देशित पशु, पक्षी, वानर, नर आदि शरीरों को धारण कर जहाँ-जहाँ प्रभु अवतार लेते हैं वहीं-वहीं उनके साथ स्वयं उत्पन्न होते हैं और प्रभु के साथ नित्य लीला के आनन्द का अनुभव करते हैं । सेव्य सेवक की परम्परा का निर्वाह करने में अपना सौभाग्य मानते हैं ।

भगवान में अनन्य भाव भक्ति होने के कारण भगवान की इच्छा के अनुरूप अथवा उनकी प्रेरणा से यदि बार-बार जन्म और बार-बार मृत्यु भगवान के लिये सुखद है तो उसको भी स्वीकार करने के लिये तैयार रहते हैं । स्वर्ग, नरक, पाताल आदि लोकों में भी भगवत् कार्य हेतु जाने में व्यथा का अनुभव नहीं करते भयंकर से भयंकर कर्म में प्रवर्तित किये जाने पर भी विषाद ग्रस्त नहीं होते । जन्म और मृत्यु को केवल यह मानते हैं कि हम भगवान की प्रसन्नता के लिये ही आविर्भूत एवं तिरोभूत हो रहे हैं । भगवान की शक्ति से शक्तिमान ऐसे ही लोग सदैव सूर्य के समान प्रकाशित रहा करते हैं, जैसे श्री हनुमान जी, विभीषण जी, राजा बलि एवं व्यास जी ।

केवल जीव:- केवल जीव उन्हें कहते हैं जो अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, समाधि) रूपी योग का अभ्यास करते हुये सभी इन्द्रियों को वश में करके विशुद्ध आत्मा वाले जीव अपने हृदय कमल रूपी मन्दिर में सर्वदा विराजमान भगवान का दर्शन करते हुये अपने हृदयरोगों का उपशमन कर परमात्मा के साथ जब तक शरीर रहता है रमण करते रहते हैं । भगवत् सायुज्य के सुख का अनुभव करने की इच्छा से ब्रह्मरन्ध्र को भेद कर वहीं पहुँच जाते हैं ।

इस प्रकार के जीवों की पाँच श्रेणियाँ होती हैं । उन सभी भेदों का विस्तृत ज्ञान करके भगवान की शरणा गति के भाव से सम्पन्न जीव भगवद् भक्ति में प्रवर्तित होते हैं । उनका मार्ग निष्कंटक विस्तृत एवं सुगम हुआ करता है । प्राप्य भगवान के तथा प्राप्ता जीव के उक्त स्वरूप को भलीभाँति जानने के पश्चात् भगवान की प्राप्ति का उपाय ढूँढ़ना चाहिये । वह उपाय कौनसा है और उसका स्वरूप क्या है, अब इसका विवेचन किया जा रहा है ।

तृतीय-भगवत्प्राप्ति के उपाय

अपने उपास्य परम श्रेष्ठ परमात्मा को पाने के सुगम उपाय इस प्रकार है ।

''सर्वभूतदया चैव सर्वत्र समदर्शनम् ।
अन्यत्राऽनिन्दनं चैव स्वेशे स्नेहाधिकं तथा ॥
''गुरावीश्वरभावश्च तदाज्ञापरिपालनं ।
स्वेशस्यैतज्जनानाञ्चसेवनं मायया विना ॥

"प्रभोः कृपावलम्बित्वं भोक्तव्यं तत्समर्पितम् ।
सच्छास्त्रेषु च विश्वासः प्राप्त्युपाया इमे स्मृताः ।

(हनुमत संहिता)

प्राणिमात्र के प्रति दया, सर्वत्र समदृष्टि, परनिन्दा से विरति, अपने इष्टदेव में सर्वाधिक स्नेह, गुरु में भी भगवद्भावना, गुरु की आज्ञा का पालन, निश्छल भाव से वैष्णवों में सद्भावना रखना, अपने इष्ट और वैष्णवों की निष्कपट भाव से सेवा करना । सदैव एकमात्र प्रभु का आश्रय लेना, लौकिक सभी वस्तुओं अन्नपानादि पूर्णरूपेण भगवान को समर्पित कर अपने लिये ग्रहण करना । असमर्पित वस्तुओं का पूर्णतः त्याग । भगवत् शास्त्र (गीता, भागवत रामायणादि समस्त भगवत् गुण कीर्तन परायण ग्रन्थों) में सुदृढ़ विश्वास । ये सभी उपाय भगवत् प्रीति पोषक हैं ।

"परोपकारो दानश्च सर्वदास्मित भाषणम् ।
विनयो न्यूनताभावः सर्वेषु समता मतिः ।"

इन प्राप्ति उपायों के आठ भेद कहे गये हैं । प्रथम उपाय-दया है ।

दूसरों का उपकार, सम्मानपूर्वक सद्वचनों से दान देना अथवा भलाई करना । मधुर हास्य युक्त भाषण, नम्रता, बात करने में दूसरों का उत्कर्ष एवं अपनी न्यूनता का प्रदर्शन करना चाहिये । छोटे से छोटे लोगों पर समानता का व्यवहार । इस प्रकार दया के छः भेद हैं । ऐसे ही व्यवहार से मानव में मानवता आती है अन्यथा वह दानव है ।

विश्व धर्म का यही मूल है । जहाँ दया है, वहीं धर्म है । धर्म वैराग्यमूलक होना चाहिये । उसी से भक्ति आती है और भक्ति से भगवत् प्राप्ति होती है । उसके अभाव में मोक्ष सम्भव नहीं है । इसलिये चराचर जगत में सर्वत्र भगवान का वास देखते हुये दया का व्यवहार करना चाहिये ।

गीतायामपि- **'समः सर्वेषुभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।'** इति

दूसरा उपाय है समदृष्टि 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' इस न्याय के अनुसार सर्वत्र उच्च या निम्न भावना न रखकर समत्व की भावना रखनी चाहिये । विषम दृष्टि तो शरीर भेद के कारण भिन्नता उत्पन्न कर देती है । आत्मा के भेद के कारण नहीं । आत्मा तो सभी प्राणियों की एक ही है । अतः कौन पण्डित और कौन मूर्ख ? नीचा, ऊँचा, दीन, धनी,

शत्रु, मित्र, छोटा, बड़ा, कम, ज्यादा ये सब भेदभाव शरीर को लेकर हैं । पशु, पक्षी भी मात्र आकार से ही भिन्न हैं, आत्मा से नहीं । अतः समदृष्टि ही भगवत् कृपा की साधिका है ।

गीता में- भी सभी प्राणियों में जो एकत्व देखता है वही देखता है ।

नैव कञ्चन निन्दयेत् न प्रशंसेत् किसी की निंदा या प्रशंसा न करें । इस प्रकार दूसरों की निन्दा से विरत हो जाने से अपने उपास्य के प्रति सर्वाधिक प्रेम बढ़ता है । अपने इष्टदेव सभी देवों में विद्यमान हैं और सर्वरूप हैं, ऐसा मानकर स्थिर चित्त से उन्हीं का ध्यान करना चाहिये । अपनी निष्ठा को शिथिल बनाकर इधर-उधर दौड़ना नहीं चाहिये । कुछ लोग कभी देव को, कभी देवी को, कभी भैरव को, कभी हनुमान जी को कभी शंकर को कभी प्रलयंकर को (वैताल आदि) को पूजने लगते हैं ऐसे लोगों को या जीवों को 'चर्षणी' कहते हैं ।

किन्तु ऐसे लोग भी भगवान को साक्षात् नहीं भजते, परम्परा रूप से भजते हैं । उनका फल भी वैसा ही होता है । चूँकि भगवान सर्वदेवरूप हैं इस प्रकार वे उन्हीं की उपासना करते हैं । किन्तु इस विधि से भगवत् प्राप्ति कालान्तर सापेक्ष हुआ करती हैं । अर्थात् दूसरे देवताओं के उपासक भी, भगवद् भक्त ही है क्योंकि भगवान की कृपा से ही उन उन देवताओं के द्वारा दिये गये फलों को वे भोगते हैं । क्योंकि भगवान् की अपेक्षा उन देवताओं का अधिकार कम ही है । अधिक फल की प्राप्ति तो भगवान की उपासना से ही हुआ करती है । वे प्रभु अनन्त हैं, निस्सीम हैं नित्य और आनन्दस्वरूप है ।

'स्वगुरौ ईश्वर बुद्धिः' अपने गुरु में भी ईश्वर की ही भावना रखनी है । यद्यपि संसार में गुरु जन भी सामान्य मनुष्य के ही आकार वाले हुआ करते हैं, किन्तु वे सन्मार्ग के उपदेशक हैं और भगवान की समीपता प्राप्त कराने वाले हैं, इसलिये वे साक्षात् भगवद् रूप ही है । मनुष्य रूप में मानवीय भाषायें मानवीय क्रियाकलापों को विधिवत् सम्पादित करने हेतु आग्रह करते हुये इस संसार में प्रकट होकर गुरु रूप में परमात्मा ही शिष्यों का उद्धार करने के लिये आते हैं । ऐसी भावना इनके प्रति होनी चाहिये । शास्त्रों में उल्लेख है-जिससे गुरु सन्तुष्ट होते हैं उससे स्वयं भगवान भी सन्तुष्ट रहते हैं ।

किञ्च भागवतेऽपि–**'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।'**
न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥'
(स्कं० ११ अ० १७ श्लो० २७)

पद्मपुराणेऽपि– 'नास्ति तीर्थं गुरुसमं, बन्धच्छेदकरं द्विज ।'

वाल्मीकिसंहितायामपिः–

''गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्बन्धुर्गुरुर्मित्रं गुरुः पिता ।
गुरुर्बन्धुर्गुरुर्मित्रं गुरुरेव सुखप्रदः ॥''
तथा च 'न गुरुं कोपयेत् क्वचित्''
''शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरुरुष्टे न कश्चनेति ।''

भगवान कहते हैं– मुझे आचार्य रूप में मानकर कभी अवहेलना मत करो । मानव बुद्धि से अर्थात् मनुष्य समझकर गुरु में दोषदर्शन मत करो । गुरु सर्वदेवमय ही होता है । पद्म पुराण में हे द्विज ! बन्धन को काटने वाला गुरु से बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है वाल्मीकि संहिता में-गुरु ही ब्रह्मा विष्णु माता, पिता, बन्धु, गुरु, मित्र और सभी सुखों को प्रदान करने वाला गुरु है इसलिए कभी भी गुरु को क्रुद्ध नहीं करना चाहिए शंकरजी के रुष्ट होने पर गुरुजी रक्षा करते हैं परन्तु गुरुजी के रुष्ट होने पर कोई रक्षा नहीं करता है ।

(तथा च वाल्मी० संहिता अ० ६)

''रुष्टेषु सर्वदेवेषु रक्षतीह रमापतिः ।
क्रुद्धे रमापतौ ह्यत्र गुरु रक्षां करोति हि ॥
कोऽपि रक्षाकरो नास्ति-गुरौ संरुष्टतां गते, ।''
ततः सर्वप्रयत्नेन प्रसाद्यो गुरुरञ्जसा ॥''
'ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यम्, भक्तिमूलं गुरोः कृपा ॥'
(स्कन्द पु० गुरुगीता)

इसी प्रकार वाल्मीकि संहिता में– सभी देवताओं के रुष्ट हो जाने पर भगवान् नारायण रक्षा करते हैं और भगवान् नारायण के नाराज हो जाने पर गुरुजी रक्षा करते हैं परन्तु गुरुजी के नाराज हो जाने पर इस संसार में कोई रक्षक नहीं है इसलिए सभी प्रकार के उपायों के द्वारा गुरुजी को प्रसन्न रखना चाहिए । ध्यान का मूल गुरुदेव की मूर्ति, पूजा का मूल गुरुदेव के चरण,

मन्त्रों का मूल गुरुदेव की वाणी तथा भक्ति का मूल गुरुदेव की कृपा है। सब जगह सफल एवं अपूर्व कार्य की साधिका प्रधान रूप से गुरुकृपा ही है।

उक्तञ्च- **"गुरुवाक्यञ्च यः कुर्याद् गुरुशुश्रूषणे रतः। अनुल्लङ्घनमाज्ञायां- तस्य मुक्तिर्न संशयः॥"**

'गुरोराज्ञाऽनुपालनम् साक्षात् भगवान ही गुरु हैं उनकी आज्ञा का पालन ही भगवदाज्ञा का पालन है। गुरु की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। उसी प्रकार यदि गुरुजी प्रसन्न हो गये तो भगवान् भी प्रसन्न हो गये कहा भी है जो गुरु वाक्यों को करता है गुरुजी की सेवा में लगा रहता है और गुरु आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करता उसकी निश्चय ही मुक्ति होती है इसलिए भगवान् के अनन्य वैष्णवों का कर्तव्य है कि वे गुरु की आज्ञा का पालन करें।

यतो हि:-**'भक्तो भक्तिर्गुरुः, साक्षाद् भगवानिति चतुष्टयी।"** (वांश्र)
एकैव ब्रह्मणो मूर्तिनाम्ना भेदः प्रदृश्यते।"

किञ्च- **'न मे पूजा तथा प्रीता भक्तानां पूजनं यथा।'**
भक्ताः सम्पूजिता यत्र तत्रैवाहं सुपूजितः॥" (इति भक्तिसारे०)

(६) भगवान् और उनके भक्तों की सेवा ही छठा उपाय है- क्योंकि भक्त, भक्ति, गुरु और भगवान् इन चारों में नाम तो अलग-अलग है वास्तव में ये चारों एक ही है। भगवान कहते हैं कि मैं अपनी पूजा से उतना प्रसन्न नहीं होता हूँ जितना अपने भक्तों की पूजा से। वास्तव में जहाँ हमारे भक्त पूजे जाते हैं वहीं मैं सम्यक् पूजित हूँ। क्योंकि मैं ही सर्वदा अपने भक्तों के हृदय में रहता हूँ भक्त हृदय के सन्तुष्ट होने पर स्वतः ही मैं सन्तुष्ट हो जाता हूँ भागवत में भगवान् ने स्वयं कहा है कि हे द्विजश्रेष्ठ! पराधीन की तरह मैं अपने भक्तों के अधीन हूँ। हमारे भक्त साधु सन्तों के बिना मैं अपनी कोई आशा नहीं करता हूँ। और भी- भक्तजन ही हमारे प्रिय हैं हमारा हृदय तो भक्तों साधु सन्तों से सदा ग्रस्त है अतः हम लोग जिस प्रकार भगवान् की सेवा करते हैं वैसी ही सन्तों भक्तों की सेवा करनी चाहिए।

'यावन्नोदेति विश्वासो न सिद्धिस्तस्य कर्मणि।'

'विश्वासेनैव सिद्ध्यन्ति कार्याणि भुवि नान्यथा।' उक्तञ्च गीतायामपि:-

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स।' श्रद्धैव विश्वासः।

उक्तञ्च गीतायाम्:-'**संन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।**
(अ० १२/श्लो० १४) **मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥**'

किञ्चः- '**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते ।**
तेषां नित्याऽभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥' (९/२२)

भगवान की कृपा का सहारा लेना (उन पर मजबूत विश्वास)

जब तक विश्वास का उदय नहीं होता तब तक मनुष्य को अपने किसी भी कार्य में सफलता नहीं प्राप्त होती । विश्वास के द्वारा ही इस संसार में कार्य सिद्धि हुआ करती है अन्यथा नहीं ।

श्रद्धा ही विश्वास है- यह पुरुष श्रद्धामय है जो जिसमें श्रद्धा करता है वह वही हो जाता है किसी भी कार्य में विश्वास ही फल प्रदान करता है अन्यथा तो अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयात्मा का विनाश निश्चित है भगवान् कहते हैं कि अपना मन और बुद्धि को जो मुझे समर्पित कर चुका है वह मुझे प्रिय हैं और भी- जो अनन्य भाव से निरन्तर मेरी सेवा करते हैं मैं उनका योग क्षेम स्वयं वहन करता हूँ ।

भगवान अवश्य ही मेरी रक्षा करेंगे ऐसा सुदृढ़ विश्वास भक्तों के लिये नितान्त आवश्यक है ।

भगवान को समर्पित की गयी वस्तु का ही ग्रहण करना चाहिये तथा असमर्पित वस्तु का परित्याग करना चाहिये । सर्वप्रथम कोई भी वस्तु भगवान को समर्पित की जानी चाहिए, बाद में उसको भगवान का प्रसाद मानकर स्वयं ग्रहण करना चाहिये ।

उत्तमोत्तम वैष्णव तो दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुएँ-भक्ष्य एवं पान (पेय पदार्थ) भी जब-जब ग्रहण करते हैं यहाँ तक कि नितान्त तृषाकुल होते हुये भी जब जल ग्रहण करते हैं भगवत् प्रसाद बनाकर ही ग्रहण करते हैं । जो प्रभु हमें सब कुछ दे रहे हैं, उनको समर्पित किये बिना ग्रहण करना या संग्रह करना चोरी है, एक दण्डनीय अपराध है । 'स स्तेनो दण्डमर्हति' ऐसा चोर दण्डनीय है । अतः भगवत् कृपा से प्राप्त वस्तु भगवान को निवेदित करके ही ग्रहण करना चाहिये । प्रसाद का फल भी मोक्ष ही है । जगत्पति भगवान की कृपा या प्रसाद से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । जो

लोग केवल अपने उदर के पोषण में ही संलग्न रहते हैं वे रात दिन पाप ही करते हैं।

समर्पण के सम्बन्ध में भगवान ने स्वयं ही कहा है-

हे अर्जुन ! जो भी करो, खाओ, हवन करो, दान करो जहाँ भी दृष्टि डालो वह सब पहले मुझे समर्पित कर दो।

अत: असर्मपण में पाप के अलावा भगवान की आज्ञा का भी उल्लंघन है।

९-भगवत् शास्त्रों में, वेद, गीता, पुराण, उपनिषद्, स्मृति आदि धर्मशास्त्रों में सुदृढ़ विश्वास एवं पूर्णरूपेण शास्त्र की आज्ञा का परिपालन।

शास्त्रों को ऋषियों मुनियों ने प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है क्योंकि वे भगवत् स्वरूप के प्रतिपादक तथा भगवद् माहात्म्य के बोधक हैं।

तथाहि- **'ऋग्यजुः सामार्थर्वाणो भारतं पञ्चरात्रकम्।'**
श्रीमद्रामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥
यच्चानुकूलमेतेषां शास्त्रत्वं तस्य कीर्त्यंते॥

अन्यदपि- **वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।'**
समाधिभाषा व्यासस्य, प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।''

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, महाभारत, पञ्चरात्र एवं वाल्मीकीय रामायण इन सबको शास्त्र कहते हैं और जो ग्रन्थ इन ग्रन्थों के अनुकूल हों उन्हें भी शास्त्र कहा जाता है और भी- चारों वेद, गीताजी, ब्रह्मसूत्र, भागवत इन चारों को प्रमाण भूत शास्त्र कहा जाता है।

इन सब शास्त्रों का निरन्तर अध्ययन, अध्यापन, सुनना और सुनाना तथा उनमें कहे गये विधि निषेध वाक्यों का श्रद्धा एवं प्रेम से परिपालन करना ही वैष्णव भक्तों का कर्त्तव्य है।

भगवान ने कहा है- वेद और स्मृति ही मेरी आज्ञा है जो इसका उल्लंघन करता है वह मेरा द्रोही है वह न भक्त है न वैष्णव। अत: शास्त्रीय कर्म न करने से निन्दा भी होती है अत: शास्त्रानुसार सदाचार का पालन करना चाहिए।

तत्र प्राप्तिफलम्:- **'प्रारब्धं परिभुज्याथ भित्वा सूर्यादिमण्डलम् ।'**

(श्रीहनुमत्संहिता:-)

प्रकृते र्मण्डलं त्यक्त्वा स्नात्वा तु विरजाम्भसा ॥
सवासनं देहद्वयं विसृज्य विरुजो भवेत् ।
अतिवेगेन तां तीर्त्वा प्राप्य साकेतकं तथा ।'
'प्रविश्य राजमार्गेण सप्तावरणसंयुतम् ।
नानारत्नमयं दिव्यं श्रीरामभवनं शुभम् ।'
तत्र श्रीभरताद्यैश्च सेव्यमानं सदा प्रभुम् ॥
विराजमानं वैदेह्यारत्न सिंहासने शुभे ॥
स्वभावनयाश्रीरामं प्राप्य सर्वं सुखप्रदम् ।
परमानन्दमयोभूत्वाऽवस्थानं फलमुच्यते ॥

श्री हनुमत् संहिता के अनुसार भगवत् प्राप्ति का फल इस प्रकार है-जीव अपने प्रारब्ध कर्मों के भोगों के बाद भगवद् भक्ति के माहात्म्य से भगवत्कृपा का बल प्राप्त कर इच्छानुसार अर्चिरादि मार्गों से गमन करता हुआ सूर्य चन्द्रादि मण्डलों का भेदन कर प्रकृति मण्डल को पार कर श्री विरजा नदी के तट पर पहुँचकर स्नान करके नदी के जल में कुछ देर तक नियमपूर्वक चिरकाल तक लिये गये भगवन्नाम की रंगस्थली मेरी जिह्वा रह चुकी है इसका स्मरण करता हुआ वासनात्मक दोनों प्रकार के सूक्ष्म एवं कारण शरीरों के बन्धन को छोड़कर विशुद्ध भगवद्भक्तस्वरूप दिव्य अमानवीय रूप प्राप्त कर यह जीव भगवद्दर्शन की तीव्र अभिलाषा से प्रसन्नतापूर्वक तीव्र वेग से विरजा नदी को सानन्द पार कर उधर पहुँचते ही भगवान के पार्षदों से सादर सेवित होता हुआ उनके द्वारा भगवान के समीप ले जाया जाता है । वहाँ अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय भगवान के साथ मिलकर इतने अधिक हर्ष का अनुभव करता है और भगवान से इतना अभिन्न आकार वाला बन जाता है जितना कि लौकिक पति-पत्नी भी अभिन्न नहीं हो सकते प्रसन्न नहीं हो सकते ।

जहाँ साकेतधाम में भक्त एवं भक्तवत्सल का परस्पर आनन्दमय संगम (मिलन) होता है उस आनन्दमय धाम का वर्णन करने में यह वाणी समर्थ नहीं है । उसका वर्णन तो केवल कल्पना के आधार पर लौकिक उपमान पदार्थों का आधार लेकर वर्णन करना उन अलौकिक गुण सागर का

एक प्रकार का उपहास ही है । अतः सहृदय विद्वानों को अपनी भावना से ही उस धाम का मधुर भावना करनी चाहिये ।

लौकिक शब्दों में कुछ ऐसा वर्णन किया जा सकता है-

वह धाम सैकड़ों कल्पतरु पंक्तियों की ललित लताओं से वेष्टित, वनों उपवनों से सुशोभित, दिव्य देवलोक के खग कुल से सेवित, सैकड़ों शाल, रसाल (आम) ताल, तमाल एवं पारिजात वृक्षों से सुशोभित है । वृक्षों पर सहस्त्रों शुक सारिकायें भगवत् कीर्तन में रत एवं भगवत् स्तवन के श्रवण में आनन्दित हैं । कोकिलों के द्वारा नवीन आये हुये भक्त जनों को लेकर प्रसन्नता प्रकट की जा रही है और उनके द्वारा भगवत् स्वरूप के वर्णन का श्रवण कर कोयल और अधिक आनन्द मग्न हो रहे हैं ।

अमृत के समान जल वाली सहस्त्रों वापियाँ वहाँ विद्यमान है, जिनकी सीढ़ियों में अनेक पद्मरागमणि, नीलमणि, मुक्ता, मूँगा और माणिक्य जड़े होने के कारण इन्द्रधनुषी छटा से वहाँ के चौराहे सुशोभित हो रहे हैं । प्रत्येक सरोवर में विकसित कमलों के पराग की सुरभि से सुरभित वायु शीतल एवं मन्द गति से चलती हुई सुखद स्पर्श का आनन्द दे रही है । दिव्य भगवत्स्वरूप से अभिन्न शरीर वाले भक्तों के अंगों से निकलती हुई कमल की सुगन्धि से आकर्षित भ्रमर गण भक्त मण्डली के चारों ओर मण्डल बनाकर अपने गुंजन से गीत संगीत का आनन्द दे रहे हैं । वहाँ के सभा मण्डपों के स्तम्भ स्वर्ण एवं मणियों से आवेष्टित हैं । इस प्रकार असीम आनन्द एवं गुणों का समूह वह भगवद्धाम है । भगवद्धाम में प्रवेश कर भक्तगण चारों तरफ दृष्टि डालते हुये परमानन्द से परिपूर्ण हो जाते हैं । एकमात्र भगवच्चरण शरण की कामना वाले ये लोग जब भगवान के समीप लाये जाते हैं तो एक परम रमणीय एवं सुखद दृश्य इनके सामने उपस्थित हुआ करता है ।

सुवर्ण रचित मणिमय भवन के बीच में बनाये गये अनन्त मणियों की रश्मियों से प्रकाशित, हजारों सूर्यों की कान्ति से विभूषित करोड़ों चन्द्रों की शीतलता से युक्त एक सुन्दर मंच पर परम कारुणिक अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक परब्रह्म श्रीराम विराजमान हैं जिनके वाम भाग में श्री सीता जी सुशोभित हो रहीं हैं । भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान, सुग्रीव एवं विभीषण आदि के द्वारा मयूर पंख निर्मित व्यजन से सेवा की जा रही है । सकल विश्व अभिराम

श्रीराम जो अपने मनोरथ रूपी रथ के नायक हैं और सुशोभित चापसायक हैं उनका दर्शन कर जीव कृतकृत्य हो जाता है। सम्पूर्ण अभीष्ट फलों की प्राप्ति से युक्त होता हुआ भगवत् कृपा पात्र हो जाता है। वह शीघ्र ही भगवद्दर्शन से उत्पन्न आनन्द के कारण सभी हृदय रोगों से मुक्त होकर सर्वदा आनन्दस्वरूप भगवान की दासता प्राप्त कर अक्षय स्थिति में बहुत दिनों तक आनन्दमग्न रहता है, यही भगवत् प्राप्ति का फल है। भक्ति और शरणागति का यही चरम लक्ष्य है। मानव जीवन का भी यही परम एवं चरम कर्त्तव्य है। भगवत् प्राप्ति ही जीवन की सफलता है। भक्ति एवं प्रपत्ति का परस्पर भेदमूलक यही रहस्य है कि भक्ति में तो स्वयं भक्त ही पूर्णरूप से भगवान की उपासना करता हुआ निरन्तर सर्वकाल में स्मरण करता हुआ अपने इष्ट देव का तनिक भी विस्मरण नहीं करता, प्रतिक्षण उनका चिन्तन करता रहता है। मृत्यु के समय में भी स्वत: सावधान रहता हुआ उस चरम क्षण में भी भक्त भगवत् स्मरण करता रहता है। भगवान स्वयं उसके लिये व्यग्र नहीं होते।

किन्तु प्रपत्ति होने पर अथवा शरणागति के सिद्ध हो जाने पर साक्षात् ब्रह्म सम्बन्ध हो जाने पर भक्त की शरणागति स्वीकृत हो जाने पर भक्त के विषय में स्वयं भगवान ही पूर्णरूपेण चिन्तातुर हो जाया करते हैं। भक्त तो सम्बन्ध हो जाने के बाद तत्क्षण समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। अपने इष्टदेव के प्रतिदिन स्मरण का भार इष्टदेव के ऊपर ही आ जाता है। भक्त तो निर्भय हो जाता है।

जब मृत्यु का समय आता है भक्त स्मरण में असमर्थ हो जाता है या मूर्च्छावस्था में आ जाता है उस समय उसकी सभी इन्द्रियों के विफल हो जाने से और स्मरण आदि के क्रियाकलाप से रहित हो जाने पर भक्त वत्सल भगवान स्वयं ऐसे शरणागत भक्त का स्मरण करते हैं और उसका उद्धार कर देते हैं। यही शरणागति की विशेषता है।

'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।'

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीतायामपि १८/६६

भगवान स्वयं स्मरण करके स्वयं ही उसे बुलाकर अपने पास बैठाकर अपनी कृपा से उसे आनन्दित कर देते हैं। स्वयं अपने को गौण (अमुख्य) बनाकर उसी को प्रधान उपभोक्ता बनाकर स्वस्वरूप का आनन्द

प्रदान करते हैं जैसा कि वेद में कहा गया है कि विपश्चित् ब्रह्म के साथ वह अनेक भोगों को भोगता है ।

गीता में भी कहा गया है-कि सभी धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जा ।

''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येद्व्रतं मम ॥'' इति-
''ततस्तं म्रियमाणञ्च काष्ठपाषाणसन्निभम् ।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥''

आनन्द भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि अपने उपाय बुद्धि से सभी धर्मों का परित्याग करने योग्यं है ऐसा वर्णित है अपनी इच्छा से स्वीकृत उपाय का ही निषेध है । भगवत्कैंकर्य भाव से तो सभी अनुष्ठानों का अवश्य कर्तव्य विधान है । भगवान की किंकरता (दासता) के भाव से सम्पूर्ण अनुष्ठानों का विधान आवश्यक माना गया है दास भाव में धर्म की आराधना करते हुये ही अन्त काल में भक्त के लिये भगवत् स्मरण आवश्यक हो जाता है ।

गीता में वर्णन आता है- अन्तकाल में मेरा स्मरण करते हुये जो शरीर का त्याग करता है वह मुझे ही प्राप्त होता है । किन्तु भगवत् प्रपत्ति (शर गागति) में भगवान कुछ विलक्षण बात कहते हैं-

एक बार जिसने शरणागति ग्रहण कर ली, वह शीघ्र ही अभयता को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् भगवत् कृपा के बल से युक्त होकर स्वच्छन्द विचरण करने लगता है । भगवान स्वयं ही ऐसा प्रयत्न करते हैं जिससे कि उसको सब प्रकार का सुख प्राप्त हो जाय । जब वह मृत्यु के समय में मोह निद्रा अथवा निश्चेतना से ग्रस्त होकर सर्वथा स्मृतिहीन हो जाता है तब स्वयं भगवान ही उसका स्मरण करते हैं और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसका उद्धार करते हैं ।

कहा गया है- शरीर के स्वस्थ, मन के सुस्थिर और धातु के सम होने पर जो मुझ विश्वरूप का सर्वत्र दर्शन करते हुए भजन करते हैं ऐसे

जब म्रियमाण मेरा भक्त लकड़ी एवं पत्थर की भाँति निश्चेष्ट हो जाता है तब मैं स्वयं अपनी याद उसे दिलाता हूँ और परम गति को प्राप्त कराता हूँ।

इत्यादि भगवद्वचनों से भगवान् स्वयं ही अपने अनुग्रह से उनका उद्धार करते हैं जीवनकाल में भी उनके लिए प्रभु स्वयं ही तत्तत्सुख साधनों की प्राप्ति हेतु सर्व विध क्रियाकलापों के सम्पादन में चिन्तातुर होकर सबका संग्रह करते हैं। शरणागत भक्त तो स्वच्छन्द विहरण करता है अपनी प्रवृत्ति के अनुसार यथेच्छ स्मरण करता है। यही भक्ति और प्रपत्ति में भेद है भक्ति में भक्त और प्रपत्ति में भगवान् अपने प्रियतम का चिन्तन करते हैं यही रहस्य है।

अनात्मन्यात्मबुद्धिस्तु स्वात्मशेषित्वभावना।
भगवद् दासवैमुख्यं तदाज्ञोल्लंघनं तथा।
ब्रह्मेशेन्द्रादिदेवानामर्चनं वन्दनादिकम्।
असच्छास्त्राभिलाषश्च सच्छास्त्रस्यावमाननम्।
मर्त्य सामान्यभावेन गुर्वादौ नाति गौरवम्।
स्वातन्त्र्यं चाप्यहंकारो ममकारस्तथैवच॥
द्वादशी विमुखत्वं च ह्यकृत्यकरणं तथा।
ज्ञेयं विरोधि रूपं तु स्वस्वरूपस्यसर्वदा॥

हनुमत् संहिता में- भगवत्प्राप्ति के विरोधियों का स्वरूप अनात्मा में आत्म बुद्धि, अपने को शेषी मानना, भगवान के दासत्व से रहित होना, वेद शास्त्र रूपी उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना। ब्रह्मा शंकरादि देवे का स्वेष्ट के रूप में अर्चन वन्दन करना। सत्शास्त्रों का तिरस्कार और असतशास्त्रों की चाह करना, सामान्य मनुष्य की भावना के कारण गुरुजनों के प्रति आदर करना, अहंता ममता के कारण अपने को स्वतन्त्र मानना एकादशी आदि वैष्णव व्रतों को नहीं करना न करने लायक कार्यों को नहीं करना। इसी ही अपने-अपने का विरोधी रूप जानो।

भगवान् की प्राप्ति में बाधक नौ महान विघ्न-

१. नष्ट होने वाले इस शरीर में ही नास्तिकों की भाँति आत्म भावना करना ।

२. मैं ही भगवान हूँ, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भगवान नहीं है यह भावना ।

३. भगवान की दासता न मानकर अपने को ही साक्षात् भगवान कहना । उनकी आज्ञास्वरूप वेद वेदान्त के वाक्यों को न मानना और उनके विरुद्ध आचरण करना ।

४. भगवान से विमुख होकर अपनी कल्याण कामना के लिये ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, देवी, भैरव एवं शिव आदि देवताओं की अलग-अलग भेद बुद्धि से कामना पूर्ति की भावना से आराधना करना अथवा द्वैत बुद्धि से परस्पर विरोध एवं निन्दामयी आराधना ।

५. भगवद् ग्रन्थों की निन्दा करते हुये व्यर्थ में ही काम क्रोध को उत्तेजित करने वाले ग्रन्थों का अध्ययन करना ।

६. अपने गुरु आदि के प्रति सामान्य मनुष्यों जैसी भावना एवं अपमानजनक व्यवहार करना ।

७. धर्म शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करके शास्त्र मर्यादा का परित्याग करके लोक लज्जा छोड़कर सर्व तन्त्र स्वतन्त्र बनकर अहंकार के मद से उन्मत्त होकर यथेच्छाचार करते हुये लौकिक भोग विलासों में अनवरत रत रहना, प्रत्येक वस्तु में अहंता, ममता, प्रकट करते हुये संसार में अधिक आसक्ति रखना ।

८. वैष्णव धर्म ग्रन्थों में निर्दिष्ट एकादशी व्रतादिका परित्याग ।

९. नीति, धर्म शास्त्र एवं सदाचार ग्रन्थों के विपरीत आचरण करना ।

इस प्रकार के भगवत् प्राप्ति मार्ग में नौ महान विघ्न है । इनका सबका परित्याग ही कल्याणकारी है । इन सबको स्वीकार करने पर व्यक्ति भक्तिमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है । इतना ही नहीं, वरन् इनके अनुरूप आचरण करने वाले स्वच्छन्दचारी व्यक्ति की बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है, जिसके